TEXT FLY WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180122

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. Accession No.

Author

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

1958

श्री राजराजेश्वरी-साहित्य-माला का चतुर्थ पुष्प

सावनी समाँ

लेखक

राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह, एम० ए०

पुस्तक प्राप्तिस्थान

अशोक प्रेस : : पटना—६

प्रकाशक
श्री राजराजेश्वरी-साहित्य-मन्दिर
सूर्यपुरा, शाहाबाद (बिहार)

चतुर्थ संस्करण १९५८
मूल्य—तीन रुपए

मुद्रक
श्री सुरेश कुमार
अशोक प्रेस, पटना—६

समर्पण

श्रीयुत चन्द्रेश्वरप्रसाद नारायण सिंह, सी० आई० ई०;
एम० एल० ए० के कर-कमलों में—

भाई,

आपके दिमाग़ की खूबियों का मैं मुद्दत से कायल था, मगर मुझे आपके दिल की बुलन्दी का पता न था। भगवान ने आपको मस्तिष्क तो दिया ही है, हृदय भी दिया है—जो उससे कहीं ऊँचा है। आज जब मैंने आपको पहचाना, तो अपने को भी पहचाना—मैं कितना छोटा हूँ!

आज मेरे हृदय का कोना-कोना स्नेह और श्रद्धा से आप्लुत है। उसी स्नेह की एक बूँद उबलकर मेरी कलम तक आ गई है। इसे आप ही ग्रहण करें।

सस्नेह—

राधिकारमणप्रसाद सिंह

१-६-३८

दो बूंद

'सावनी समाँ' हिन्दी-प्रेमियों के कर-कमलों में साहित्य-मन्दिर की चौथी भेंट है। हाँ, यह कोई भाव-जगत् की नहीं, वस्तु-जगत् की सृष्टि है।

आज से कोई ४०-४५ वर्ष-पूर्व इसी बस्ती का यह एक चित्र है। 'लालू बाबा' १९०५ के प्लेग में मरे। उन्होंने तबीयत बड़ी रंगीन पाई थी। मरते दम तक मस्त रहे। 'गोपाल लाल' की याद उन्हें बराबर बनी रही। बड़ी मस्ती से उनकी कहानी वे बच्चों को सुनाया करते। इस पुस्तक के लेखक श्रीमान् राजासाहब और आपके संगी-साथियों ने बचपन में कई बार बड़े चाव से उनकी जबानी यह कहानी सुनी थी। हाँ, कहानी का यह रूप पुराना जो हो, पर इसकी नई सजावट तो लेखक की अपनी चीज़ है।

'बाप की रोटी' और 'माँ' पीछे से जोड़ दी गई हैं।

भगवान् करें, सावन का यह सुहावन-संदेश सहृदय पाठकों का हृदय सरस, शीतल करे।

विनीत,

प्रकाशक

सावनी समाँ

१

जब कभी सलोने सावन की घटा उमड़कर बूँदों की झरी लाती है, हमारे पड़ोसी गोपाल बाबू की याद कलेजे में हूक-सी उठती है। जब से वे उठ गये, मानों सावन का सुहाग उठ गया। कहाँ गई अलबेले बादलों की अवली, कहाँ रही झूले की किलोलिनी कजली ! अब तो न बरसाती रिमझिम की सुरीली काकली है, न मेघों के हुङ्कार में मल्लार की लहरी। मुझे गोली गोधूलि की वह अबीरी चूनरी नहीं भूलती ; दुतल्ले की छत की वह मजलिस—वह अंगूरी—नहीं भूलती। सच, गोपाल बाबू क्या गये, सावन सूना हो गया—बरसात की माँग धुल गई।

आज भी ठण्डी हवा चलती है, आसमान पर घटा घहराती है, छत पर बूँदों की झरी बँधती है। मगर

हमारे लिए तो हवा चलती नहीं, सिसकती है; बूँदें बरसतीं नहीं, रोती हैं; बादल गरजते नहीं, चीखते हैं; बिजली चमकती नहीं, तड़पती है। बादल तो उठते हैं, हौसले नहीं उठते। लब तक प्याली तो उठती है, वह रंगीनी—वह मस्ती—नहीं उठती। जो रँगीला जवान सावन के यौवन में रूह फूँक देता था, वह सावनी समाँ की तरह उठा और मिट गया।

आज भी मेरी मानस-दृष्टि पर वह सावनी चकल्लस की पार्टी चक्कर काटती है। उस विलुप्त गौरव की धुँधली स्मृति गोधूलि की म्लान आभा की तरह स्निग्ध भी है—करुण भी।

शाम होते-होते दुतल्ले की छत पर मनचले यारों की टोली जमती। रंगीनों की रंगीनी रंग लाती। और दिनों तो शतरंज और गंजीफ़े से भी हमारी पार्टी के नैश-विलास की आयोजना किसी क़दर सम्पन्न हो जाती, मगर सावन के जल्से के जलूस के लिए तो किसी की जादूनज़री की कटारी, किसी की काँपती उँगलियों पर पुलकित प्याली, किसी चपल सलील चरणों के घुँघरू की झङ्कार, एक ज़री आँचल का दिलफ़रेब निखार हमारे रसिक-शिरोमणि गोपाल बाबू के दिल के उभार के लिए ज़रूरी थी। जब तक किसी चुलबुली चितवन के चोंचले नहीं चलते, तब तक दिल की कली नहीं चिटखती।

क़हक़हे और गुलछर्रे। चुहलें और चुटकुले। आसमान पर झूमते बादलों की दौड़। इधर उड़ते आँचलों के साये में सागर का दौर। सुराही की जाफ़रानी सौंफ़ी सावन की झरी में मस्ती बिखेरती। मद-भरी आँखों से मद बरसकर मन की पपड़ियों को शराबोर कर डालता! साथ-साथ नन्हीं-नन्हीं तश्तरियों में चने की चटपटी घुघनी, तीतरों की बिरियानी, खस्सी के मग़ज़ की पकौड़ियाँ, क़ीमे की दाल-भरी बड़ियाँ, भूनी हुई कलेजियाँ पीनेवालों की प्यालियों के पड़ोस में गुज़रती रहतीं। कभी शेरख़ानी और छेड़ख़ानी भी चलती। मीर साहब तपाक से मिसरा फ़रमाते—

सर प' छाती है मस्तानी घटा काली साक़ी
सदक़ा ज़ुल्फ़ों का मेरी भर दे पियाली साक़ी

मोहन बोल उठता—वल्लाह! एक मेरा भी मुलाहज़ा हो—

सावन उतर आया है खिचकर सुराही में,
आज मस्ती से उफनती है गुलाबी साक़ी

उधर से मंटू आवाज़ देता—

लेती है हवा ठंढी दिल की तलाशी साक़ी
रिमझिम तराने हैं, मय की मुनादी साक़ी।

महफ़िल चहचहा उठती। फिर गाने का रंग जमता। कोई

सितार लेता, कोई तबला। कोई सारंगी लेता, कोई मजीरा। गोपाल बाबू हारमोनियम छेड़कर गाते—

बरसत है रिमझिम-रिमझिम री सावन की झीनी बूँदरिया,
ओ मधुआ पियरवा कलवरवा भरवा दे हमारी गागरिया।

अगर रसूलपुर से गोपाल बाबू की दुलारी 'दुलारी' आ गई, तो फिर सावन के चटपटे तरानों में उस कमसिन के शोख गले का पुदीना और भी जायका भर देता। वह ठुमुक-ठुमुककर गाती—

छाई महल पर काली बदरिया,
भींगे ललन मेरी लाली चुनरिया।

अब हमारी दिलपसन्द ठुमरी छेड़ती—

पिया के सँदेसा लेके आई हैं बदरिया।
ताही ते मँदिरवा पर छाई हैं बदरिया।

— तो मत पूछिये, महफ़िल में बलबलों का तूफ़ान उठा देती। मीर साहब बरस पड़ते—लिल्लाह! पिया का सँदेसा रखो, आज साक़ी का सँदेसा गाओ—

साक़ी का सँदेसा लिये घूमत हैं बदरिया,
ताही ते नशे में मस्त झूमत हैं बदरिया।

फिर तो सब झूमने लगते। कोई 'मीने की मुनादी देत झूमत हैं बदरिया' गाता, कोई कुछ और मजमून बाँधता। घंटों यही समाँ बँधा रहता। गोपाल बाबू पैर में घुँघरू बाँधते, मीर-

साहब कमर में तबला। बोतलों के काग पटापट उड़ते रहते। दुलारी के नीमास्तीन के बटन टूट-टूट पड़ते।

गोपाल बाबू इन रसीलों के रसाले के सिपहसालार थे। तखल्लुस था 'नटवर गोपाल'। प्यार का नाम 'कप्तान'—दिलेर और दबंग।

नायब कप्तान मीर साहब थे। आपकी खसखसी दाढ़ी भी थी। रोज़े-नमाज़ की पाबन्दी भी। मगर थे दिलफेंक दिलदार—पीने-पिलाने के शौक़ीन। और यह नाज़ था कि 'दामन निचोड़ दें तो फ़रिस्ते वज़ू करें!'

मोहन और मंटू भी अपनी जगह रखते थे। जवानी की ऐंठ भी थी, कला की किलोलों में पैठ भी—हाज़िरजवाबी भी।

सब-के-सब शहीदेनाज़ थे। लहू लगाकर मैं भी शहीदों में शामिल हो गया था।

हमारी टोली में काव्य की चर्चा की धूम थी। यही उस वक्त की सभ्यता-शिक्षा थी। काव्य की मार्मिक और कलात्मक आलोचना हमारी दिमाग़ी दिलचस्पी थी। एक ओर 'अमीर' और 'दाग़' के बज़्मे-सखुन की बुलबुल चहचहाती—दूसरी ओर कालिन्दी-कूल की कोयल कूकती। हमारे यहाँ तमाल-निकुंजों की क्यारी में गुले-लाला की किनारी टँकी थी। ललिता की ललक भी थी, लैला की कसक भी। माशूक़ की बेवफ़ाई भी थी, परकीया की दिलरुबाई भी।

जवानी में परकीया राधा और रसिया श्याम शृंगार-काव्य के उद्दीपक रहते। बुढ़ापे में वही राधा और वही श्याम भक्ति-रस के अधार हो जात। जवानी मे राधा और श्याम की रंगीन रँगरलियों की चर्चा—बुढ़ापे में राधेश्याम की सेवा और अर्चा। गोपियों के एक-एक अंग के विकास पर, उनको रस-भरी चितवन की मिठास पर, उनके हाव-भाव के विलास पर नशीली कविता लिखते-लिखते सहसा उनके कामकिलोल की एक अलौकिक व्याख्या शुरू हो जाती। वह केलि-किलोल की कुंजगली गो-लोक की मार्यादा पा जाती। गोपियों का प्रेम काम के कूचे से उचककर अध्यात्म के बाम पर पहुँच जाता। वही मुरली, जो पहले तरुण-हृदय पर मादक रस बरसाती थी, अब एक विचित्र रहस्य का आभास भर देती। वह मधुर रस-प्रियता धीरे-धीरे पुनीत प्रेम की परायणता में परिणत हो जाती। बस, वासना पलटकर भक्ति की भावना बन गई। वही लहर, वही रस—जो जवानी को सुराही म शराब-सा चोखा था—बुढ़ापे के कमण्डल मे गंगाजल हो गया!

भाई-भाई में मजहबी घोलमट्ठा किसी ने सुना तक नहीं था। चुन्दी और दाढ़ी तो घी-खिचड़ी की तरह मिली रहती थीं। मुअज्जन की अजान आरती की झंकार मे सुर मिलाकर गूँजती। हमारी दिल की दुनिया में जो सत्यनारायण की पंजीरी थी, वही मौलूदशरीफ़ की जलेबी भी। ईद और होली,

गंगा और यमुना की लहर-सी मिलकर एक साथ मौज लेतीं।

हमारी बस्ती मुंशियाना वज़ेदारी के लिए मशहूर थी। नामीगरामी मुंशियों का अखाड़ा था। अरबी-फारसी का दौरदौरा। शुस्ता ज़बान—शीन-क़ाफ़ से चुस्त-दुरुस्त। हमारी बिरादरी में तो चन्द ऐसे बोक़रात थे, जो बड़े-बड़े आलिम-फ़ाज़िल मौलवियों के कान तराश लेते। बाज़-बाज़ तो अल्लाह् के बन्दे सूफ़ियों के खानक़ाह् के मुरीद भी थे और पण्डित-पुरोहित के चरणोदक को सर पर रखकर परलोक भी सँवार रखते। सुनते हैं, गोपाल बाबू के दादा मरहूम तो रोज़ा भी रखते, नमाज़ भी पढ़ते और साथ-साथ शिवजी के मन्दर में डंडवत' भी कर आते। बचपन में फ़ारसी की तालीम थी। तड़के उठकर चना-चबेना फाँकते, तख्ती लिये मौलवी साहब के दालान के टाट पर ठट्ट बाँधना, घंटे-घंटे उनका हुक्का भरना, मौक़े-ब-मौक़े बधना माँज देना, पीठ पर हौले-हौले छड़ी खाना और झूम-झूम, चिल्ला-चिल्लाकर पढ़ते जाना—'क़रीमा बबख्शाय बरहाल मा, कि हस्तम असीरे कमन्दे हवा।' क़रीमा और मामक़ीमा; गुलिस्ताँ और बोस्ताँ।

गाँव में मन्दिर भी था और मस्जिद भी। मगर बुलन्द-इक़बाली थी कोला कलवार के देवघर की और शाह् साहब के मज़ार की। घर-घर भूत और भभूत की चर्चा, गुनियों का दबदबा, गंडे-तावीजों का सिलसिला, पोपबाज़ी का बोलबाला!

अलमस्ती का ज़माना था—अल्हड़ और अक्खड़ ! रुपये का ढाई सेर घी और गोरखपुरिये पैसे की दर्जन बगेरियाँ बाज़ार में आम बात थी। दूध-दही सावन की झरी की तरह घर-घर बरसता था। आज तो गाय के दूध की तलाश छट्ठी के दूध की याद दिलाती है। घी तो सूँघने को मयस्सर नहीं।

लोग डटकर खाते थे और डण्ड पेलते थे। पहलवानी का शौक़ नौजवानी का शौक़ था। जिसे देखो, वही लँगोटबंद, धूल चढ़ाये, मूँछों पर ताव देता फिरता है। जिसके कान टूट जाते, उसके पैर ज़मीन न छूते। 'कलाजंग' और 'धोबियापाट' की चर्चा बच्चों की ज़बान तक थी। गलियों में कुत्ते तक पेंच लड़ाते फिरते—पैंतरे पर झगड़ते थे।

गोपाल बाबू इसी वायुमण्डल में पलकर जवान हुए थे। हमलोग एक साथ झुलफुलाहे उठकर हँसते-खेलते मैदान जाते, दाँतून के लिए नीम की डली तोड़ते। टूथ-ब्रश और विलायती मञ्जन हिन्दुस्तानियों के दाँत तोड़ने के लिए अभी नमूदार न हुए थे। आध घंटे तक दाँतों पर रगड़ होती। फिर नदी में कूदकर किलोलें चलतीं।

वहाँ से निबटकर सीधे अखाड़े पर जाते। गोपाल बाबू कुश्ती के रगो-रेशे से परिचित थे। जब वे लँगोट बाँधकर अखाड़े पर उतरते, दस नवसिखुओं को जोड़ कराकर तो दम लेते। उनका उसूल था—सौ डण्ड नएक लपटंत। पट खींचने में उनकी

पटुता कमाल की थी; उस्तादों के दाँत खट्टे कर डालते। ठंढे होकर दूध और बादाम का शरबत। घर लौटकर नामी-गरामी पहलवानों पर टीका-टिप्पणियाँ चलतीं। साथ-साथ ताश का शगल रहता। गुलाम-चोर। चारों ओर से चपतबाज़ी की चहलपहल।

कभी-कभी तीसरे पहर की पतंगबाज़ी के टुर्नामेंट के लिए माझे की तैयारी होती। बोतल की बारीक बुकनी चूड़े में पकाई जाती; फिर चम्पई रंग डालकर उतार ली जाती। इसी माझे से रील के डोरे पर पॉलिश चलती; वह तलवार की धार की तरह खिंच जाता। गोपाल बाबू तो माझा तैयार करने में ऐसे सिद्धहस्त थे कि उनके परेते की डोरी लखनवी नख को चुनौती देती।

तीसरे पहर चिक्का या कबड्डी चलती या कनकौओं की कलाबाज़ी बड़ी गरमा-गरमी से शुरू होती। वे पेंचा लड़ाने के पैंतरे में फ़र्द थे। क्या घच्चा, क्या थप्पा, क्या लाट—हर फ़न में हातिम थे। यह काटा! वह काटा!! कटे हुए कनकौओं को लूटने के लिए तमाशबीनों की छीनाझपटी चलती।

गोपाल बाबू बटेरबाज़ भी थे, कबूतरबाज़ भी। हमलोग छत पर खड़े होकर आपके लक्का कबूतरों की कलाबाज़ी देखते। सुरमई रंग के कबूतर—अलबेले बुर्राक़। उनकी गर्दन में तौक़ और पैर में पैंजनी पड़ी थी। तमाम आँगन इन बाज़गीर

परिन्दों के चोंचलों और किलोलों से गर्म रहता।

टापियों में बटेर, लवा और चनक पाले जाते। पतली सिरकी की तीलियों से ये टापियाँ तैयार होतीं—दुतल्ली या तितल्ली। जोड़ों पर हाथी-दाँत की घुंडियाँ डाल दी जातीं। तमाम तल्लों में बटेरों के लिए अलग-अलग कमरे बने रहते। छोटे-छोटे दरवाज़ों के सामने रेशमी झालरें झूलतीं। गोपाल बाबू के पलँग के पैताने उनके कुरीज़ों का काबुक रहता।

बटेरों को चुन-चुनकर दंगल के लिए तैयार किया जाता। गोपाल बाबू घंटों फुरहरी दे-देकर उन्हें हाथों में कसते रहते, कानों में कूक देते, शराब में भिगोये हुए ताँगून खिलाते और दंगल के दिन घी में भुने सत्तू की गोलियाँ भाँग का पुट दे-देकर उनके हलक़ के नीचे उतारते।

दंगल में बड़ा मज़ा आता। बन्द कमरे में हमारी पार्टी बैठती। उधर से मीर साहब के चुनिन्दा चनक आते, इधर से गोपाल बाबू के लड़ैते कुरीज मैदान में उतरते। एकाध घंटे चुटीली नोक-झोंक चलती। धौल-धप्पा—धींगामुश्ती। कितने अखाड़िया चोंच और पंजों की मार से लहू-लुहान हो दुम दबाते। जो पीठ खा जाते, उन्हें यार-ग़ार शाम को क़बाब बनाकर चट कर जाते!

बाज़ार के दिन हमलोग बन-ठनकर दूकानों की सैर करते। मीर साहब हाथों में बटेर कसे आते। मंटू अड्डे पर बुलबुल

लिये निकलता। गोपाल बाबू कंधे पर गुलेल और झोली में गोलियाँ लिये इतराते फिरते। मेरे हाथ में लड़ैते तीतर का पिंजरा रहता। उसकी चहक की तान कोयल की कूक से बाज़ी ले जाती।

कभी-कभी अखाड़े में पटे और बाने, तलवार और गदके का रेयाज़ होता। कप्तान के हाथ की लकड़ी बिजली की तरह सर पर टूट कर जाती। हमारे खलीफ़ा दीलू मियाँ तक उनका लोहा मानते। मुहर्रम के दिनों में हमलोग सर पर आसमान उठाए रहते। कप्तान क़रबले के मैदान में जिस जन्नाटे के पैंतरे दिखाते, उसे देख-देखकर बड़े-बड़े खेलाड़ी दाँतों-तले उँगली काटते। नेयाज़ के वक्त अखाड़े पर उनके हाथ की लकड़ी दीलू मियाँ के बाने के साथ सिरे पर रखी जाती।

गोपाल बाबू बड़े भड़कीले जवान थे। घुँघराली जुल्फ, कसरती देह, लम्बी क़लम, खड़ी-खड़ी मूँछें, बड़ा-बड़ी शोख आँखें, आँखों में रस और हवस, रंगीन तबीयत, कानों में मोतिया के फाहे, मुँह में मगही पान के तवक़दार बीड़े, शरबती साटन के चुस्त नीमास्तीन पर आबेरवाँ का घेरदार पंजाबी, गले में बनासफेनी चादर और सर पर चौगोशिया कमरखी टोपी।

उन दिनों अमीरों में बटेरबाज़ी की तरह रस-भरी इश्क़बाजी का भी शौक़ था। शोहदेपन की शौकीनी मर्दों की

मर्दानगी मान ली गई थी। यों तो बचपन ही में गले में जंजीर तो ज़रूर डाल दी जाती, मगर उससे किसी का गला थोड़े ही फँस पाता। बीवी गले का हार या गले का भार, जो हो, जवानी में गलबहियाँ डालने के लिए एकाध नई सुराहीदार गर्दन की तलाश ज़रूरी थी। बीवी घर में घर भले ही कर ले, मियाँ के दिल में घर करना ज़रा टेढ़ी खीर था। घर की घरनी कुछ दिल में घर तो कर नहीं पाती।

गाँठ में पैसेवाले गँठबन्धन की गाँठ को भी परवा नहीं रखते; दुनिया की तमाम गाँठों की धज्जियाँ उड़ा डालते हैं। मर्द की तो पाँचों उगलियाँ घी में हैं। बस, एक चुटकी सिन्दूर किसी अपरिचिता के सर पर रख दिया और डाँट के साथ उसके सरोचश्म पर सवार हो गये। माना, शादी दो का एक होना है—हमारे कंधे की चादर के खूँट में एक गुलेनार आँचल का छोर क्या बँधा, दो जीवन सदा के लिए बँध गये। जीवन तो जुड़ गया; मन जुड़े या नहीं—यह सवाल ही नहीं उठता। औरत की अपनी अलग एक आत्मा भी है—क़ुदरत की देन एक हृदय भी है—इसे न किसी ने सुना था, न जाना था। उसके लिए प्रेम तो स्वच्छन्द जीवन का एक आनन्द उत्स नहीं, व्यक्तित्व का चरम विकास नहीं, वरञ्च पति के मनोरंजन का एक साधन है।

घर के आँगन में तुलसी के तले हम दीप जो दिखायें, मगर

दिल-दिमाग़ को तरोताज़ा रखने के लिए हम चमन की कामिनी की सुगन्ध ज़रूर ढूँढते हैं। रस का प्यासा भौंरा कुछ तुलसी की डाल की ओर नहीं झुकता। बीवी घर की ज़ीनत जो हो, कुछ उससे चुलबुली तबीयत की फ़रहत नहीं होती। जिसे छाती फाड़कर घर के धंधों में खटना है, उसकी छाती के रोएँ मधुमास में भी स्पन्दित नहीं होते। बीवी बेचारी तो चूल्हे की आँच में पककर ख़ुद कबाब बनी रहती है। बच्चे की कचकच में जिसे मरने की भी फ़ुरसत नहीं मिलती, उस मुर्दादिल पर कोई ख़ाक मरेगा? यहाँ तो जब तक मीने की माया में किसी मस्तानी चितवन की छाया नहीं पड़ती—प्याले के रस में किसी शोख होंठों का लुआब ज़ायक़ा नहीं भरता—तब तक न पीने-पिलाने का लुत्फ़ है, न राग-रंग की लज्ज़त!

यही ज़माने की हवा थी। बीवी के आँचल के खूँट में बँधे रहना किसी को गवारा न था। और, गोपाल बाबू तो ज़माने की हवा से भी दो क़दम आगे ही उड़ते—उड़ते क्या, जवानी उड़ाए फिरती। वे तो हरी-भरी डाल की बुलबुल थे और मालती की लदी शाख से उड़कर सेवती की क्यारी में पर मारना उनकी ज़िन्दादिली का खेल था। ग़रज़ कि दगे साँड़ की तरह वे जिधर हरी फ़सल पाते, उधर ही बेरोक-टोक मुड़ जाते। अगर मुँह लगाते वक्त कहाँ मुँह की खानी पड़ी या पिट-पिटा गये, तो कुछ परवा नहीं। उनकी मर्दानगी की नाक

तो कटी नहीं, न उनके कंधे ही कुछ ऐसे कमज़ोर थे कि दस-पाँच लाठी की चोट से लच जाते। अव्वल तो उस जवार में ऐसा कोई छाती का पोढ़ नहीं था जो उनसे आँखें मिलाकर आँख तरेर सकता। उनका फ़रमाना था कि जब भौंरा कली-कली के रस को ढूँढ़ता है, तब काँटों के खुरच से कब तक बचा रह सकता है? जो खुरच से डर गया, वह इश्क़बाज़ी के मोरचे क्या खाक लेगा?

आप थे भी क़िस्मत के ऐसे साँड़ कि जिधर कम्पा लगाते, एकाध उड़ती चिड़िया फँसा ही लेते। अगर ख़ुदा न ख्वास्ता ठाला पड़ा, तो तर माल के बदले रूखे-सूखे से भी तन की तपन मिटाने में कोई मुज़ायक़ा नहीं। इस सुनहरे वसूल पर कि तलछट ही सही, नशा तो है—उनकी हवस की ज़बान का ज़ायक़ा बदलने के लिए एक सामान हो जाता।

२

गोपाल बाबू के घर पर कोई था नहीं। बचपन में ही बीवी बेचारी टन बोल चुकी थी। दूसरी शादी की चर्चा ज़माने से चल रही थी। एक बूढ़ी दादी थीं, जो दिन में तीसरे पहर पोपले मुँह में दाँतूनी रस्म अदा करतीं। चार के बाद मट्ठे और गुड़ से खराई मिटातीं और आधी रात जाते-जाते अपने हाथों से पकाकर कढ़ी-भात खातीं। वे सुबह से शाम तक बेल के पत्तों पर चन्दन में अनार की कलम डुबो-डुबोकर रामनाम लिखती रहतीं और दिन में दस बार गले में आँचल बाँध देवी के चौरे पर नाक रगड़-रगड़कर गोपाल की गोद में एक बाल-गोपाल देख सुरपुर जाने की मन्नतें माँगतीं।

गोपाल बाबू के एक चचा भी थे। ज़माने से लखनऊ में रौनक़-अफ़रोज़ थे। उनको अजब कैफ़ियत रही। जवानी

उनकी महाजनी कूचे में कटी। सुनते हैं, सुबह से शाम तक वे दफ्तर में क़लम घिसते। साहबों के बूट के तलवों में पेशानी के पसीने की पॉलिश देते और रिश्वत की रूपाल्लियों से जेब खनखनाते घर लौटते। घर पर आकर गिरस्ती की जाँच-पड़ताल, नोन-तेल का मोल-तोल, घी-दूध, गोश्त-तरकारी का हिसाब-किताब, सूद की कौड़ी-कौड़ी का जोड़-घटाव उनका रोज़मर्रे का प्रोग्राम था। क़र्ज देते और सूद खाते। आधी रात तक घर-घर तकाज़े करते फिरते। जवानी का जोश ठण्डा था, महाजनी का जोश गरम।

सूद को मूर क़रार देने में जिसकी जिन्दगी का क़रार है, उनके दिल के पहलू में किसी कोमल मनोभाव का संचार मुहाल है। सूद की रोटी खानेवाले घा-चुपड़ी रोटी खाने के बदले बाजरे की मोटी लिट्टी कहीं शौक़ से खाते हैं। शायद दाँतों से पैसे उठानेवाले किसी के दाँतों की मिस्सी के फेर में जल्द नहीं आते।

उनके घर में बीवी तो मौजूद जरूर थी; मगर वैसे ही, जैसे उनके अस्तबल में कुम्मैत घोड़ी बँधी थी। न अड़ती, न पुश्ता चलाती, न कभी बाग लेने में कंधे झाड़ती। बस, दो मुट्ठी अनाज पर—एक ज़रा-सी पुचकार पर—सुबह से शाम तक टिखटिख खाती रहती। जो बीवी बचपन की सहेली-सी थी, वह जवानी में एक रोज़मर्रे की मसरफ़ी बाँदी-सी रह गई।

उसके दिल को तसल्ली तो ज़रूर थी, मगर उस चिरपरिचित चितवन की चाँदनी में न दिल की कली खिली, न दिल में किसी मलयानिल की टोह मिली।

उसी मुहल्ले में बिरादरी की एक ग़रीब विधवा थी—अभाव से भरी, स्वभाव से हरी। कामना-सी चंचल, वेदना-सी विकल। डर की डोरी से उसके पर तो बँधे थे ज़रूर, पर मन की उड़ान और लहू का दौरान लिहाज़ की आड़ में बराबर जारी था। समाज ने सीने पर सवार होकर उससे जीवन का हक़ भले ही छीन लिया हो, मगर उसकी नस-नस में पैवस्त यौवन के हक़ को तो कोई छीन न सका था। ज़िन्दगी सूनी थी; जवानी भरी थी। आखिर जब यौवन उसके बदन पर रंग भरकर उसके मन पर भी रंग भरने लगा, फिर तो रंग की तरंग से वह रंगीन हो उठी। ख़ुदा के घर से उसे रूप और रंग जो मिला हो, पिता के घरमें न प्यार मिला, न पति के घर में शृंगार। मिली थी केवल दारुण फिटकार। पेट की ज्वाला से उस रंग के निखार पर आँच न लगी—यही ग़नीमत थी। बिचारी मुश्किल में थी। इधर कामना की आँधी चल रही थी, उधर घर में भूनी भाँग नहीं—चूहे डण्ड पेल रहे थे। और शौहर के वक्त का क़र्ज़ सर पर अलग सवार था। मुंशीजी के सूद का संचार उसके दिल के उभार की तरह दिन दूना, रात चौगुन हो रहा था। महाजन का तक़ाजा भी उसके सिन के

तक़ाज़े की तरह शदीद था।

आख़िर करती क्या ? उसने भगवान् के घर से मिले हुए ख़ज़ाने में हाथ डाला। दूसरा तो सम्बल था नहीं। क़ुदरत अदाओं के ज़रिए क़र्ज़ अदा करने को ठाना। मृत पति की आत्मा को ऋण-मुक्त करने का तो कोई दूसरा ज़रिया था नहीं।

जहाँ आँसू के मोती बेकार हो गए थे, वहाँ मुसकान के मोती क़ारगर हो गए। मुंशीजी इन आबदार मोतियों को चुगने लगे। कौड़ी-कौड़ी अदा हो चली। कहाँ रुपयों का तक़ाज़ा देने आते, कहाँ दिल का तक़ाज़ा जता जाते। सूद के हिसाब का कच्चा चिट्ठा तो सन्दूक में पड़ा रह गया, इधर दिल का कच्चा चिट्ठा एक शोख़ चितवन ने खोलकर धर दिया। वह मुँह से लाल उगलती, मुंशी जी के मुँह से राल टपकती! जब कभी वह ज़रा चितवन फेरकर मुँह फेरती, तो आप और भी मुँह फैलाते।

जवानी का जोश गरम हुआ, महाजनी का जोश ठंढा पड़ा। कामिनी ने काञ्चन को धर दबोचा।

चालीस के पार की इश्कबाज़ी जान का जंजाल हो जाती है। आज तक जिस मधुर वेदना की अनुभूति कभी ख्वाब में भी मयस्सर नहीं हुई थी, वह एकाएक तूफ़ान बनकर उठ खड़ी हुई। उस तूफ़ान की चपेटों से उनके दिमाग़ का कोलें

उखड़ पड़ीं। एक नई लज्जत, एक नई हसरत, एक नई मसर्रत, एक नई टीस, एक नई मिठास, एक विषमय रस, एक रसमय विष—एक साथ एकाकार हो गए। जो यौवन उनके जीवन के नेपथ्य में—उनके लहू के पर्दे में—अबतक काञ्चन की धाँधली में पड़ा निश्चेष्ट बैठा था, उसने जब एकाएक अभिसार के लिए पैर में घुँघरू बाँधा, तब मुंशीजी की सारी चेतना चंचल हो उठी। आज तक तो इसे न जाना था, न पहचाना था; न ढूँढ़ा था, न पाया था; यह कहाँ से बेवक्त टूट पड़ा और आते ही जीवन की निखिल शृंङ्खलाओं को उथल-पुथल कर शिथिल कर दिया! उनका तमाम अतीत काँटों की सेज बन गया। हाय! सूद के जाल में पड़कर जवानी के तर माल से वे महरूम ही रह गए! जीवन की यह विफलता दिल में धुआँ बनकर छा गई। आज रस के इस भाण्डार का—मलयानिल के इस सञ्चार का—पता भी चला, तो तब, जबकि जवानी का उतार शुरू हो चुका। उन्हें एकाएक खलने लगा कि वे इतने दिनों तक दिल का गला टीपकर दिमाग़ का दम भरते रहे—इतने दिनों तक जीवन-निधि को सूना रख कर सन्दूक के खाने भरते रहे—सुख न बटोर कर सूद बटोरते रहे। अब दस्तावेजों का वह अम्बार जीवन का भार हो गया। चन्द चूड़ियों की मीठी खनक के आगे आज मोहरों की झनकार फीकी पड़ गई।

फिर क्या था, वे उस हद तक जाने को तैयार हो गये,

जिसकी रसाई कभी यौवन के स्वप्न में भी सम्भव नहीं थी। तमन्ना की आँधी ऐसी थी कि लिहाज़ की मंज़िल बात-की-बात में तय हो गई। विधवा ने रखेली बनकर उनके घर में पैर रखा; बीवी ने संन्यासिनी बनकर पिता के घर का रास्ता नापा?

मुंशीजी अपने भलेमानस बीवी के इस अभावनीय विद्रोह पर चमक उठे। उनकी नई 'विधवा बीवी' अपनी सौत को सास का पद देने पर तैयार थी; मुन्शीजी ने भी विवाहित बांदी को मालकिन का रुतबा देकर उसके आँचल में ज़ेवरों और मोहरों के सन्दूक की कुञ्जी बाँधनी चाही; मगर जो घोड़ी आज तक कभी अड़ी नहीं थी, वह इस बार ऐसी अड़ी कि टस से मस न हो सकी।

उस दिन से—बीसों वर्ष हुए—मुन्शीजी कभी गाँव पर न लौटे। उन्होंने भूलकर भी कभी घर आने का नाम न लिया। उसकी खासी वजह थी। पहली तो यह कि जिस आँचल के साये में वे लखनऊ में पनप रहे थे, वह आँचल की चाँदनी लखनऊ के बाहर मुहाल थी। यानी, उनकी दारता शहर के सुभीतों को छोड़कर दो दिन के लिए भी किसी दूर दिहात में जाने को तैयार न थी। दूसरी वजह यह कि जिन हकीम साहब के मुकब्बी नुस्खों के इक़बाल पर मुंशीजी की सूखी पंजरियों में प्राण और रस का सँचार जारी था, वे लखनऊ के सरहद

के बाहर मलकुल-मौत की बन्दिशों के छक्के छुड़ाने की ज़िम्मेवारी लेने को तैयार नहीं थे।

फिर, वे घर आते तो कैसे आते! और उनकी अनुपस्थिति में गोपाल बाबू के गले में मखमली जंजीर पड़ती तो क्यों कर पड़ती? इधर गोपाल बाबू ख़ुद अपनी गर्दन फँसाने के लिए तैयार भी न थे। उनकी गर्दन में तो नई-नई मृणाल-भुजाओं की माला की कमी न थी।

आख़िर जब गोपाल बाबू की यारबाशी और ऐयाशी की शुहरत आसमान चूमने लगी, तब इसकी भनक उड़कर लखनऊ तक जा पहुँची। चाचा की पिलही चमकी। उन्होंने ख़र्च भेजना बन्द कर दिया और भतीजे को अपनी बीमारी का तार देकर लखनऊ तलब किया।

पहले तो टालमटूल की कोशिश की गई। मगर किसी दलील की दाल न लगी। सर पत्थर पर टकराकर रह गया। गोपाल बाबू को बिस्तर लपेटना ही पड़ा।

जुदाई की घड़ी आई। आख़िरी रात गाने-बजाने का शोर-गुल रहा। आँसू से गीले गान; आह से थर्राती तान। गला फाड़ते-फाड़ते गला बैठ गया। प्याले भरते रहे, आँखें भरती रहीं; पर दिल न भरा। दिल तो हिल-हिल कर उठता और बैठ जाता।

मीर साहब ने छेड़ा—'लिल्लाह! जल्द लौटना। कहीं

चौक के कूचे की ओर गये, तो···'

'तो क्या ?' —गोपाल बाबू ने पूछा।

'तो गये !'

'अजी वाह ! मैं इस कूचे में कुछ नया जा रहा हूँ ? एकाध महीने में चचा को मना-मुनू कर वापस न आ गया, तो फिर गोपाल के नाम पर····'

'बस करो ! शहरी चितवन की चोट करारी पड़ी, तो सारी फुर्ती फुर्र हो जायगी !'

'भई, 'वह चितवन और कछू, जिहि बस होत सुजान !'— गोपाल बाबू ने मूछों पर ताव देते कहा।

'म्याँ, लखनऊ की सुरमई जादूनज़री कुछ और है ! अच्छा, खुदा हाफ़िज़।'

गोपाल बाबू चल दिये। जाते वक्त दर्द-भरी आवाज़ में कह गये—

'मैं जाता हूँ दिल को तेरे पास छोड़े,
मेरी याद तुझको दिलाता रहेगा।
भला कोई तुममें से ऐ हम-सफ़ीरो,
ख़बर गुल की हमको सुनता रहेगा॥'

२

जाड़ा आया, जाड़ा गया। गोपाल बाबू जो गये सो आये नहीं। मीर साहब बटेरों की टोपी लिये टापते रहे। गोपाल बाबू तो थे नहीं, जो चनकों की चोट चलती। सर्दी तो सर्द आह खींचकर कटी। गर्मी में होली की सरगर्मी भी ठंढी पड़ गई। दिल की कली गुलाब की कली न हो सकी। हमारे गुलशन मे तो न गुल खिला, न बुलबुल की चहक पड़ी। रस्म की तामीली जरूर हुई। प्याले की चुमुक के साथ घुँघरू की ठुमुक भी थी; पर न मीने में वह मोहनी थी, न घुँघरू में वह रंगीनी। वह धीगाधींगी, वह धमाचौकड़ी, वह गरमागरमी, वह चुहलबाजी, वह होली की हिल्लोललहरी—गोपाल बाबू की खास कलाबाजी थी, उनके साथ गई। गुलाल उड़ा; रंग उड़ा। मगर न किसी के सर पर रंग चढ़ा, न कहीं रंग जमा।

मैं शराब पीकर टन तो हुआ, मगर वह नशा कहाँ था ? वह खुमारी कहाँ थी ?

इस साल का मुहर्रम भी बिलकुल मुहर्रमी रह गया। मीर साहब के घर हसबमामूल दुलदुल की सवारी तो निकली, मगर कप्तान कहाँ थे, जो लिल्ली घोड़ी बनते ! मर्सियाख़ानी तो बाक़ायदा ज़रूर हुई, मगर वह पुरदर्द गला कहाँ था, जो 'अनीस' और 'दबीर' के तरानों में रूह फूँक देता ! हमलोग पायक बनकर ताज़िया के ईर्द-गिर्द 'अली ! आली !' पुकार चँवर डुलाते फिरे, गर्दन में हरी बद्धी झूलती रही, कमर में घंटियाँ बजती रहीं; मगर न किसी हलवाई की दूकान लूटने की हिम्मत रही, न किसी देहाती हसीन को छेड़ने की जुर्रत।

पहले तो गोपाल बाबू की चिट्ठियों से उनके चचा की मुलगती बीमारी की ख़बर मिलती रही। उनकी परेशानी, उनकी जाँफ़िशानी की चर्चा थी। फिर यह पता चला कि आप ख़ुद उस मुबारक मर्ज़ में गिरफ्त हो गए, जिसकी तपिश की शिद्दत पर शायद ज़िन्दगी की लज़्ज़त है। यह वह लगन है, जिसके एक ओर विष की जलन है और दूसरी ओर पीयूष का सिञ्चन। गोपाल बाबू भी किसी शोख पर मर-मरकर जीने लगे—यह आभास उनके पत्रों में भरने लगा। हमलोग दाँतों तले उँगली काटते। जो इश्कबाज़ी के मैदान में बड़ी बेमुरव्वती

से शिकार खेलता रहा, वह खुद एक शिकार का शिकार हो गया! आखिर किसी की जादूनज़री पत्थर का दिल चीरकर चुभ ही गई। उस ज़ालिम का कलेजा भी बैगन का भुर्ता बन गया!

जो जवानी के जीट पर दूसरों के कान तराशता है, उसे एक दिन अपना कान भी थामना पड़ता है! क्या यही प्रकृति का विचित्र विधान है?

हमलोग मस्त थे—खूब हुआ! गये! नाक कटी।

खबर आई—शादी हो गई। शरई शादी—रस्म की तामीली। किसी को न नवेद आया, न कोई यहाँ से गया। गोपाल बाबू के सर सेहर बँधा और साथ-साथ गले में जंजीर बँधी। उनकी वासना की बिसात पर गोटी तो लाल हुई, मगर बाज़ी हाथ न आई। बीवी मियाँ के कान थाम कर उठाती और बैठाती। सुना कि गोपाल बाबू की सारी चौकड़ी दुम दबा गई। मगर, उड़ती खबर थी, किसी को यक़ीन न हुआ। क्या सचमुच किसी की कजरारी चितवन ने उनके जीवन के ताने-बाने को नुकीली कनखियों से चीथ-चीथ कर उनके झन्ने उड़ा दिए? वे तो किसी काकुल के कलाप में बंधनेवाले मर्द न थे। आखिर बात क्या है? फिर सुना, गोपाल बाबू अब ससुराल ही में रोटी तोड़ रहे हैं। बीवी कुछ घूँघटा-घाँघरीवाली नहीं, पर्दा-तोड़ बे-जोड़ है। मियाँ पर एक आँख बराबर रखती है।

कभी सैर-सपाटे के लिए भी बाहर फुदकने नहीं देती।

ये सब खबरें उनके नौकर रामू की ज़बानी मिली थीं। वह चंद दिनों के लिए छुट्टी पर घर आया था। गोपाल बाबू को तो खत-किताबत की न फुरसत थी, न इजाजत। जो हो, हमलोग टकटकी बाँधे अभी सावन के छींटों की बाट जोह रहे थे। उनकी छाती में रस है, भुजाओं में कस। वे ज़रूर इस सोहाग की बाढ़ को तैरकर पार हो ही जायँगे। आखिर नारी के बाहुपाश का बन्धन कितना भी निविड़ क्यों न हो, गोपाल बाबू का चुलबुला दिल मुक्ति का पथ ज़रूर ढूँढ़ निकालेगा। अब तक न आये—न आये। वजह भी थी। मगर सावनी महफ़िल के वक्त वे किसी के काकुलो-पेचा में उलझे नहीं रह सकते। उन्हें खुद चैन न होगी। और नहीं तो दो-चार दिन के लिए भी उड़कर आ ही जायँगे। जब सावनी चकल्लस का सँदेसा लेकर श्याम सजल बादल उनकी छत पर पुकार उठेंगे, उनके मानस-पट पर किसी रंगीन अतीत की छाया डालेंगे, हवा के सर्द झोंके उनके प्यासे होठों को फेनिल प्याले की सुध करा देंगे, बूदों की झरी आसमान से उतरकर दिल में चू पड़ेगी, तो वे खुद बादल की तरह उमड़कर हवा के घोड़े पर सवार आ ही पड़ेंगे।

आखिर सावन आ ही गया। वही काली बदरिया; वही धानी चुनरिया। वर्षा-बधू की वही नीली कञ्चुकी; वही रँगीली

ओढ़नी। बिजलियों की रँगरलियाँ; पुरवैया की अठखेलियाँ। पेड़ों के कंधों पर बेलें लपटाने लगीं। बेनों पर कलियाँ मुस्काने लगीं। मेघ की छाती में लौ लगी। प्राणों के पहलू में मुरादों की वेदना जगी। बूँदों की झरी आई। हरियाली की छटा छाई। हमारे दिल के कपाट खुल पड़े। मगर, अफ़सोस, गोपाल बाबू के बैठक के कपाट ज्यों-के-त्यों बन्द रहे।

मीर साहब ने जो नई रसीली कजलियाँ तैयार की थीं, वे उनके सफ़ीने में पड़ी-पड़ी रो पड़ीं! मोहन के घर जो मुश्की सौंफी चुलाई गई थी, वह क़राबे के पेंदे में बौखला उठी। जिस शोख की सुरीली तान सावन की उठान में जान डाल देती, जिसकी मस्तानी चितवन सौंफ़ी के छलकते हुए पैमाने को चुनौती देती, वह गोपाल बाबू की चिर-परिचित दुलारी बे-बुलाए भी आकर सेहरा सुनाने के लिए अपनी झीनी किसमिसी ओढ़नी पर नया लचका चढ़ा चुकी थी। मगर, यहाँ तो महफ़िल का रंग ही फीका पड़ रहा था। हमारी चट-चौकड़ी के कप्तान गोपाल बाबू न आए, न आने की खबर ही आई; और वग़ैर उनके सावन का सोहाग रहा या न रहा—दोनों बराबर है।

मंटू की दादी सावनी झूलन के लिए अयोध्या जा रही थी। मंटू को भी पहुँचाने जाना पड़ा। हमलोगों ने अर्ज़ किया—

'भाई अयोध्या से लखनऊ कुछ दूर नहीं है। वहाँ भी चन्द घंटों के लिए चले जाना।'

'आखिर फ़ायदा ?'—उसने तिनक कर कहा।

'कप्तान से मिलकर····'

'अजी, कहाँ का मिलना !'—मंटू ने बात तराशकर झुँझलाते हुए कहा—'उन्हें बीवीबाज़ी से फुर्सत भी है ?'

'लिल्लाह ! इसी क़दर जता देना'—मीर साहब चुकी दाढ़ी टटोलकर बोले—'कि उनके मन्दिरवा पर बदरिया छाई है !'

'छाया करे ! उन्हें शहरी बँदरिया मिल गई है। अब आपकी बदरिया और बंदरिया की रसाई उस दिल तक नहीं !'

मैंने उसके कंधे पर हाथ रखकर कहा—'सुनो मंटू, काश, वे तुम्हें मिल गये तो—

योग की न कहियो वियोग की न कहियो कछू,
लोग की न कहियो न सोग सरसाइयो।
हित की न कहियो अहित की न भाखियो जी,
चित की न कहियो न चेत की चेताइयो॥
पूछैं जो 'प्रबीन बेनी' रसिक गोपाल लाल,
गोकुल के हाल तो बेहाल इमि गाइयो।
ऊधो ! मन भावन सों सहज सुभावन सों,
सावन सुहावन को आवन सुनाइयो॥'

❀ ❀ ❀ ❀

पाँच साल बीत गये। गोपाल बाबू की याद आती कि एक सुखद स्मृति-सी दिल के एक कोने मे बच गई थी। वह भी धीरे-धीरे धुँधली हो चली थी। हमारी चाण्डाल-चौकड़ी की तमाम कड़ियाँ जोड़ों से उखड़ चली थीं। कितने मेम्बर तो गाँव छोड़कर इधर-उधर बिखर पड़े थे। जो दो-चार मौजूद थे, वे पुरानी आदतों से मजबूर शाम को मीर साहब के बैठक में अड्डा जमाते, पान-तम्बाकू के साथ-साथ चाय की चुस्कियाँ चलतीं और एकाध घंटे शतरंज या गँजीफ़े की तफ़रीह रहती। अब न शोख मुश्की का कुलहड़ था, न पियक्कड़ों का मस्त हुल्लड़। न सावन के तराने थे, न बुलबुल के फ़िसाने। जो पीने-खाने-वाले थे, वे अपनी प्यास और भूख समेटे चाय के घूँट पीते और सूखे चावल के दाने चुगते। हमलोगों ने कितनी बार हृदय के टूटे तारों को खींचकर बाँधा, मगर न वह स्वर आया, न वह सिहरन। दिन और रात आते और जाते रहे; पर न आये मुरादों के दिन, न आई उमंगों की रातें! मीर साहब के काव्य-कानन की क्यारी में मारफ़ती हवा चलने लगी। उनकी मिजराब से भरी उँगली तसबीह के दाने ढूँढ़ने लगी। एक गोपाल बाबू के हट जाने से तमाम ठाट-बाट का टाट उलट गया।

बरसाती गर्मी थी। दिन-भर फूहियों का छिड़काव तो जारी रहा, मगर ऊमस टस-से मस न हुई। कहीं से हवा

उठती तो दम में दम पड़ता। तीहरे पहर बादल भी काफूर हो गये। धूप खिली—चिलचिलाती। पानी न पड़े, न सही; मगर हवा का पट पड़ना सब को पटरा कर देना है। मैं तो धूप में पड़ी मछली की तरह पटपटा उठा। पत्ता तक खरकता न था। आखिर दुतल्ले की छत पर चढ़ा, तो नई आफत सामने आई। छत के मुड़ेरे पर फैला हुआ जो मालती-लता का झोंप था, उसकी टहनियों के भीतर से अस्तप्राय सूर्य का लाल चक्का मेरे दृष्टि-पथ पर तप्त शलाका की तरह चू पड़ा। फौरन सीढ़ियों से नीचे उतरा। बागीचे की ओर मुड़ा। दो कदम भी आगे न बढ़ा होगा कि पत्ती की आड़ में गोपाल बाबू की शक्ल-सी नज़र आई। मैं अकचका गया। वह शक्ल सामने आई। सच, वही तो थे।

'वाह यार! तुम कहाँ से चू पड़े?'—मैंने छूटते ही पूछा।

'कहाँ से कहूँ! आसमान से·····

'तुम तो भाई आसमान के फूल हो चुके थे। अच्छा, भाभी कहाँ हैं?'

'आसमान पर!'—गोपाल बाबू आसमान की ओर उँगली उठाकर ज़रा विचलित स्वर में बोले। उनकी आँखों में नमी थी, चेहरे पर ज़र्दी।

'आसमान पर? सच! तो क्या आसमान फट पड़ा?'

'फटता नहीं, तो मैं यहाँ गिरता कहाँ से?'

'यही वजह है कि तुम्हारा चेहरा सूखकर ज़र्द हो गया है। कितने दिन हुए ?'

'मुद्दत हुई···दो साल।'

'दो साल ! तो थे कहाँ ?'

'खाक छान रहा था। जीने के लाले पड़ गए हैं।'

'अजी वाह ! तुम्हें हो क्या गया है ? एक बीवी गई, दूसरी आयगी। तुम तो कभी ऐसे निखट्टू नहीं थे !'

'भई, अब गोपाल वह न गोपाल न रहा—उसका कङ्काल तुम देखते हो।'

'अजी, सावन की हवा लगी और तुम सरसब्ज हुए ! दो दिन में रंग भर देगी। हमारे कूचे में सावन की फुहार के साये में यौवन बरसता है। भूल गए—हमारी सावनी महफ़िल के करश्मे ?···

'भूला तो न हूँ। मगर···क्या लुत्फ़ अंजुमन का जब दिल ही बुझ गया हो !'

'कहाँ का बुझना !—किसी की चुटीली चितवन की बिजली फिर लौ लगा देगी, यार !'

'तुम जानते नहीं। मेरी ज़िन्दगी की धार ही पलट गई है।'

'किधर—जहन्नुम की ओर ? माज़ल्लाह ! तुम्हारी बीवी क्या मरी, तुम्हारी नानी मर गई ! खैर, ठहरो। कल बातें

होंगी। रात को यहीं खाना। घर में सीक़कबाब पक रहा है। झींगों की चटपटी भुजिया भी है।'

'तो, मैं तो शाम को फलाहार करता हूँ।'—गोपाल बाबू ने बड़े आहत स्वर से कहा।

'तौबा-तौबा! यह कब से?···ऐं, कंठी भी बाँध ली है!'

गोपाल बाबू मेरी ओर करुण-कातर दृष्टि से देखकर चुप हो गये। फिर ज़रा सँभलकर बोले—'क्या करूँ? कलेजे पर पत्थर रखना ज़रूरी पड़ा।'

'क्यों?'

गोपाल बाबू ने एक सर्द आह ली। वह आह गले के दर्द से मिलकर छन्द बन गई—

'जो ख़िज़ाँ हुई वो बहार हूँ, जो उतर गया वो ख़ुमार हूँ;
जो बिगड़ गया वो नसीब हूँ, जो उजड़ गया वो सिंगार हूँ।
मेरा हाल क़ाबिलेदीद है, न आस है, न उमीद है;
मेरी घुट के हसरतें मर गईं, मैं उन हसरतों का मज़ार हूँ।'

४

दूसरे दिन शाम होते जब मैं गोपाल बाबू के बैठक पर पहुँचा, तब वहाँ की कैफ़ियत देखकर पाँव तले से ज़मीन निकल गई। जो बात कभी स्वप्न में भी सम्भव न थी, उसे आँखों के सामने पाया। अक्सर सत्य के करश्मे स्वप्न के सपने में नहीं आते। देखा, गोपाल बाबू रामनामे की चादर कंधे पर रखे, वैष्णवी फटाका सर पर दिए, गले में तुलसी की माला डाले, कुशासन पर बैठकर 'हनुमान-चालीसा' का पाठ कर रहे हैं। सामने उनके खानदानी गुरु—एक वैष्णव वैरागी—चौकी पर पद्मासन मारे, जप-मालिका में हाथ दिए, चुपचाप सुमिरनी के दाने गिन रहे हैं।

दो-चार चेले-चाटी भगवान् के प्रसाद की तैयारी में तर-बतर एक ओर ओसारे पर बराबर का मोहन भोग घोल रहे

हैं। उस तर माल की सुगन्धि गुरुवर के चन्दन-चर्चित नथनों पर एक हल्की-सी कँपकँपी पैदा करती हुई चारों ओर मीठे-मीठे बिखर रही है।

बग़लवाले कमरे में, जहाँ पहले बटेरों की टाटियाँ, पतंगों की पेटियाँ, नख और परेते, पटे और बाने क़रीने से सजे रहते थे, वहाँ आज घी और साकल का एक अम्बार-सा खड़ा है। बीचो-बीच कमरे में रामनगर के मशहूर तांत्रिक देवव्रत जी किसी विशेष हवन के आयोजन के लिए यज्ञ-वेदी की रचना में मसरूफ़ हैं। सामने आँगन के एक परित्यक्त कोने में गोपालबाबू की तमाम शौक़ की चीज़ें—पुराने पतंग और परेते, सितार और तबले, गुलेल और गदके—उलटी साँस लेते उलटी पड़ी हैं।

सितारों के आलोक-स्पन्दन में, दूज के चाँद की धुँधली किरण में, उनके हृदय का मूक क्रन्दन सजीव हो उठा। गोपाल बाबू भले ही न समझें, पर मेरी मानस-दृष्टि के सामने उनके अतीत की तमाम रँगरलियाँ छनभर झलक उठीं।

मैं तो दंग था। गोपाल बाबू इस हद तक उतर गये! जो शख़्स तमाम मज़हबी ढकोसलों और मज़हबी मुल्लों की खिल्ली उड़ाने में अपनी दिमाग़ी ज़िन्दगी को तफ़रीह समझता था, वह ख़ुद आज उन्हीं प्रवञ्चक पक्षों और प्रपक्षों के हाथ की कठपुतली बनकर सारे गाँव का मज़ाक हो रहा है! जो बुराक

अलबेला जवान अपनी रस-लंपटता की धृष्टता से मत्त, बारीक शोहदेपन के बाँकपन से मस्त, वसन्त की क्यारियों में कली-कली का रस निःशङ्क लूटता, उलझता, लड़खड़ाता और भँड़राता फिरता था, उसी ने आज एक उजड़ी हुई बेल के लुप्त-प्राय स्मृति-सौरभ को लेकर पतझड़ की उसासों को गले का हार बना रखा है—जान-बूझकर उसी में उलझा हुआ सिसकियाँ भर रहा है। यह पुरानी कृतियों की प्रतिक्रिया है या नियति का निदारुण परिहास? क्या जीवन के ज्वार के बराबर ही उतार भी है? क्या यौवन के तूफ़ान का अवसान सुनसान है?

मैं ओसारे के एक ओर आड़ में खड़ा हो गया। गोपाल बाबू ने पाठ खत्म किया; फिर गुरु महाराज की ओर रुख कर बड़े विनीत स्वर में कहा—

'महाराज! क्या इस जीवन में दुःखों का अन्त नहीं है? भगवान् की शरण में आकर भी हमारी वेदना.....'

'गोपाल! भगवान् की वन्दना के लिए हमारी अन्तर्वेदना से बढ़कर कोई दूसरी साधना नहीं। जो जीवन काँटों के वृन्त पर विकास पाता है, वह रूप और रस में गुलाब-सा दिव्य होता है। जिस हृदय के कोष में व्यथा का पराग भरा रहता है, वह पारिजात के सौरभ से आप्लुत अमरत्व को पाता है। जिन आँखों में आँसू का निर्झर है, जिन प्राणों में व्यथा का सुर

है, जिन शिराओं में पीड़ा की मीड़ है, जिन उच्छ्वासों में विवशता की नीड़ है, वही करुणा का परिचय भी है—भगवान् का आलय भी। भाई, दुख को वरण करो। इस विष में वह मधु है, जो कभी सुगन्ध बनकर उड़ नहीं जाता। इस तपिश में वह वसन्त है, जो कभी पतझड़ बनकर झर नहीं पड़ता। सुख ढूँढ़नेवाले दुख पाते हैं, दुख ढूँढ़नेवाले सुख पाते हैं। भाई, दुख में सुखी रहो, आँसुओं में हँसते रहो। यह वह मलयस्पर्श है, जो तुम्हारे सुषुप्त देवत्व को ठोकरें दे-देकर जगा देगा। यह वह बादल है, जो केवल वज्रपात ही नहीं करता, रस भी बरसाता है और उसी अश्रु-सिंचन से जीवन की खेती लहलहा उठती है। दुःखों के तिमिराच्छन्न पथ पर जीवन का अभिसार बेकार नहीं होता—प्रिय का मिलन दुर्निवार है। भाई, जब चारों ओर से तुम्हें दुख घेर लेता है और इस माया और ममता के संसार में तुम्हें तिल-भर भी निरापद स्थान नहीं मिलता, तभी कहीं ओर-छोर न पाकर तुम अपने अन्तर की पोर-पोर में डूबते हो। यही डूबना तुम्हारा उबरना है। तुम्हें वहाँ अमृत का वह उत्स मिलेगा, जो एक दिन जीवन-नद के सुख और दुख दोनों कूलों को मिटाकर एक कर देगा। भाई, इसीलिए कहता हूँ कि तुम्हें भगवान् की शरण ढूँढ़नी है, तो दुख का वरण करो, डरो मत। यह अभिशाप नहीं, देवता का निर्माल्य है।'

'मगर, महाराज! मैं इस जीवन की शून्यता से तो ऊब चला।'

'गोपाल! तुम भूलते हो। देखो, ज्यों ज्यों हम बाहर से रिक्त होते जाते हैं, त्यों-त्यों भीतर से भरते जाते है। सम्भवतः जीवन का शून्य होना मन का भरना है। जब शून्य में डूबकर तुम्हारी सीमाएँ मिट जायँगी, तभी तुम्हारे रोम-रोम में निस्सीमता भर उठेगी।'

मेरा तो उस मुहर्रमी आबहवा में दम घुट चला। मैंने ताज़िया के दिनों में मर्सियाख़ानी तो बहुत सुनी है, मगर वैष्णव भक्तों के मुख से कराहों की बुलन्द-इक़बाली की व्याख्या आज ही सुनने में आई। किसी को शायद ज़िन्दा दफ़ना देने का यह तरीक़ा बड़ा मुजरेब है।

तब तक हमारे मुहल्ले के गोकुल माली की बेटी दोने में कुछ फूल-माला लिये आ टपकी। बारह साल की दुबली-पतली, मालती की लोनी लता-सी फूली-फली, मक्खन-सा बदन, कजरारी चितवन। वह ज़रा लजाती-सी आई, चुराती-सी आई, मुस्काती-सी आई। गोपाल बाबू की निगाह अनायास उधर मुड़ गई। उनकी कनखियों में एक बिजली-सी चमकी—वही परिचित शिखा, वही लपकती लौ। मगर दूसरे ही क्षण वह चमक लोचनों के कोने में विलीन हो गई। उन्होंने एक साँस ली और सर झुका दिया।

तो क्या उन खिड़कियों से गोपाल बाबू के मन का चोर झाँक गया ? वैराग्य के कपाट के भीतर फाँक मौजूद है ? अभी वही मन है, वही सिहरन है, वही चितवन है, वही स्पन्दन है ? यह सारा साधन कुछ मन का मनन नहीं, कोरा आत्म-प्रवञ्चन है ?

मेरे रहस्य का पर्दा और भी निविड़ हो गया। प्यास है, तो फिर पीते क्यों नहीं ? भूख है, तो फिर चखते क्यों नहीं ? प्यास है, तो फिर उपवास क्यों ? और संन्यास है, तो फिर प्यास क्यों ? कामना है, तो फिर यह साधना कैसी ? और साधना है, तो फिर कामना कैसी ?

जब मालिन की छोकरी मेरे सामने से लहराती हुई गुजरी, तो अनायास मेरी ज़बान से फूट पड़ा—

'खुदा तेरा बुते राना दराज़ सिन तो करे ;
सितम के तुम भी हो काबिल, खुदा वो दिन तो करे।'

गोपाल बाबू फड़क उठे। मुस्कुराए, शर्माए। फिर, जाने क्यों, सिटपिटा गये।

❀ ❀ ❀

उस दिन मंटू के घर छठी थी। दो बेटियों पर बेटे की बधाई। मंटू के दिल में खुशी तो ज़रूर थी, पर उस खुशी की रसाई उसकी जेब तक न थी। था वह चंट। बड़ी और फुलौरे की दरियादिली पर उसने दोस्तों की दिलजोई ठानी। खूब ! हम

इस झावली में आते? इधर गर्दन तोड़कर जलसा वसूल करने की ठहरी। पँवरियों के गले के लोच में लाख सुरीलापन हो—उनकी कमर की तोड़ में लाख लचीलापन—पर उनके चेहरे की चुक्की दाढ़ी, सर की लटपटी पगड़ी उनकी तमाम विभूतियों पर पानी फेर देती है। भला, पँवरियों का पँवारा किसे गवारा होता होगा! हम लोग कोप-भवन में जाकर डट गए! छठी की ऐसी-तैसी! न सही बड़ी, न सही फुलौरी; दुलारी का मुजरा ज़रूरी है। आखिर बाप की कमाई किस दिन काम आयगी, उनके सराध के दिन?

बच्चू आ गये रोब में। दुलारी को बुलाना पड़ा।

दुलारी गाने गए और गोपाल बाबू दाद न दें। दुलारी नाचने आए और गोपाल बाबू ताल दें! आग पानी हो गई; बिजली फुलझरी हो गई—वह भी भरी जवानी में आखिर दुलारी उन्हीं की रही—जब वह मँजरा रही थी, उभरी भी न थी। आज जब रस भरा, मद चढ़ा तो भौंरे को मधु की चाट ही न रही! क्या स्मृति-पट पर अतीत की एक लकीर भी बच नहीं रही है?

नौ बजे होंगे। टह-टही चाँदनी। बाहर चबूतरे पर चाँदनी तनी। दुलारी खड़ी हुई। यारों ने दिल थामा, बूढ़ों ने कमर थामी। उसकी ज़री गुलेनार चूनरी चाँदनी में रङ्ग भरने लगी। उसकी लचती कमर की बिजलियाँ महफिल में चुटकियाँ लेने लगीं।

हमलोगों से रहा न गया; गोपाल बाबू के घर छापा मारा। टाँग ले चलने की तैयारी थी। वे गिड़गिड़ा उठे—'भाई, मुझे माफ़ करो। मैंने काँटों का मार्ग चुन लिया। चारा नहीं।'

'अजब उल्लू हो। कंकड़ी चुनते रहोगे बहार के दिन!'

वे एक क्षण चुप रहे। फिर रुँधे गले से बोले—

'न छेड़ ऐ निहतए वादे बहारी राह लग अपनी,
तुझे अठखेलियाँ सूझी हैं, हम बेज़ार बैठे हैं,।'

'बेज़ार! वजह?'

'यही तो आज़ार है!'

'यार! ज़रा सोचो तो सही, मंटू को कितनी दिल शिकनी होगी! तुम यहाँ मौजूद रहकर....'

'मगर मजबूर जो हूँ!'

'तुम्हारे ही खयाल से दुलारी बुलाई गई!'

'दुलारी?'

'जी हाँ, दुलारी! आज साक़ी भी है, सुराही भी है। और मीने की माया में उस शोख की अँगड़ाइयों की छाया छलक रही हैं। उसके एक-एक अंग की बिजलियों के अक्स ने सुराही की रूह में नई रूह फूँक दी है।'

गोपाल बाबू उठे और बैठ गए। उनकी छाती से शायद एक उछाह-सा उठा, मगर कराह में डूब गया।

'क्या करूँ,....मेरा व्रत जो है!'

'एक सूरत है। भजन सुनना।—'गर नहीं वस्ल तो हसरत ही सही।'

गोपाल बाबू की एक न चली। हमलोग टाँग ले चले। गुरु महराज ने भी दबी आवाज़ में ईज़ाज़त दे दी। और देते नहीं तो जाते कहाँ!

रामनामे की चादर कंधे पर डाले गोपाल बाबू महफ़िल के छोर पर सकुचते-सिकुड़ते आकर बैठ गए। मोहन की तो राय थी कि दुलारी को मुजस्सिम उठाकर उनके सर पर लुढ़का दिया जाय। मगर मीर-मजलिस मीर साहब की उँगलियाँ इधर तसबीह पर फिरने लगी थीं—वे इस हद तक छलाँग भरने पर तैयार न थे। आखिर महफ़िल में बड़े-बूढ़े भी थे। बे-मौक़ा हाथ-पैर फैलाने की गुंजाइश न थी।

दुलारी गा रही थी—

'दिले नादाँ तुझे हुआ क्या है,
आख़िर इस दर्द की दवा क्या है!'

वह एक उस्ताद! कितने मैदान ले चुकी थी। ठुमकती हुई गोपाल बाबू के सामने आई। कलेजे पर हाथ रखा। गले में दर्द भरा। ग़ज़ल की लड़ी गाती, आँचल पसारती, सामने बैठ गई, जैसे मिसरे का भाव बता रही हो!

'हम हैं मुश्ताक़ और तुम बेज़ार,
या इलाही यह माजरा क्या है!

मैं भी मुँह में ज़बान रखता हूँ,
काश पूछो कि मुद्दआ क्या है !"

एक समाँ बंध गया। मैंने ज़रा डपटकर कहा—'देखता नहीं ? भजन गाओ।'

दुलारी उठी। ज़रा-सी लची। ठुमकती हुई लौट गई। 'जो इरशाद' कहकर उसने झुककर सलाम किया। दूसरे ही क्षण सारंगी गुनगुनाई। उसने सुर उठाकर छेड़ा—

'मेरे तो नटवर गोपाल, दूसरो न कोई !,

महफ़िल चहचहा उठी। गोपाल बाबू चिहुँक पड़े। होठों के प्रान्त पर एक स्मित हास्य की सूक्ष्म रेखा-सी झलकी। आँखों में आग की एक लकीर-सी चमकी। मगर पलक मारते पलकें झुक गईं। चुप हो रहे।

आध घंटे तक समाँ बँधा रहा। गोपाल बाबू गुम-सुम बैठे रहे।

फिर खाने-पीने का सिलसिला चला। लोग आने-जाने लगे। इसी भभ्भड़ में गोपाल बाबू न जाने कब चम्पत हो गये। मुझे जो पता चला, तो चट चबूतरे से कूद पड़ा। देखा, गोपाल बाबू घर की ओर [illegible] जा रहे हैं। पीछा किया। ड्योढ़ी पर पहुँचा तो वे सिढ़ियों के ऊपर ऊपर दुतल्ले पर चढ़ चुके थे। मुझे ज़रा ताज्जुब हुआ। वे उस छत पर तो कभी जाते न थे। बात

क्या है ! दबे पाँव मैं भी ऊपर चढ़ गया वहाँ जो कुछ देखा, तो ठक हो गया !

निशीथ का सन्नाटा। छत पर चाँदनी सुफैद चादर तान कर सो रही थी। गोपाल बाबू किसी नशे में मस्त झूम-झूमकर इठला रहे थे। वे हाथ चमकाते, भाव बताते, कमर लचकाते, मचल-मचलकर गा रहे थे। अंग-अंग से, एक अश्लील इंगित, एक उत्कट वासना की लपट थी ; चितवन में प्रदीप्त कामना की झलक। वे उँगलियों को नचा-नचाकर गाते—

'झूम-झूम कलेजवा हूलति है
तोरी चटकी चुनरिया सेन्दुरिया ;
बिजुरी सी लचकति चमकति है
तोरी पतली कमरिया सुकवरिया !'

अहा ! यही तो असली गोपाल लाल हैं—उनका नग्न रूप ! रामनामे की चादर तो महज़ धुएँ का बादल है। मगर इस पर्दे की ज़रूरत ?

अबतक बेचारे ने अपनी प्रवृत्ति को कुचल रखा था। मगर कहीं प्रवृत्ति भी कुचली जा सकी है ? प्रकृति भी किसी घूँघट की ओट हो सकी है ?

लहू लोहा लेता है, लोहा नहीं मानता। यह राग, यह आग, विराग को बाग लेगी ! मगर····

गोपाल बाबू की निगाह जो मुझ पर पड़ी तो वे एक-बारगी

पानी-पानी हो गए। सिट्ट ! वह पानी आँखों तक उतर आया। बोले—'भाई, तुमसे अब पर्दा नहीं रहा। सुनो। बग़ैर उगले दम घुट रहा है !'

हम दोनों उसी छत पर बैठ गए। गोपाल बाबू ने एक साँस ली। फिर कहना शुरू किया—"लखनऊ में चचा की बीमारी तो थी ही, चचानी की नाज़बरदारी भी थी।"

"चचानी ?"—मैंने बात तराशकर कहा।

"भई, चचा की नानी समझो ! थीं तो रखेली, मगर रोब-दाब में बीवी के भी कान तराशतीं। घर की सारी गिरस्ती उनकी उँगलियों पर थी। चचा तो उनकी गोद के बच्चे-से नज़र आते थे—दुबले-पतले, बित्ते भर के ठिगने। कमर टेककर उठते, कान थामकर बैठते। चचानी तो दमखम में—डीलडौल में सैंडो पहलवान की नानी थीं ! अगर खुदा-न-खास्ता वे चचा की छाती पर एक टाँग रख देतीं, तो मियाँ की पसलियाँ मड़मड़ाकर टेढ़ी पड़ जातीं। चचा तो हलवाने की यखनी पर फुदकते, वरना कभी क टन बोल गये रहते। चचानी की उमर तो ढल चुकी थी, मगर झुर्रियों के बादल के साये में मिस्सी-काजल की हवस बराबर थी।

"मेरे ज़िम्मे इमामजस्ते की कसरत थी। हकीम साहब की मोज्बही और मोकव्वी दवाओं के नुस्खे जान के जंजाल थे। छाती फाड़कर खटना था। सुबह से शाम तक दवाओं को

छाँटना, कूटना, छानना और औंटना—बस, एक आफत का सामना समझो।

"कुछ दिनों तक तो मैंने दिल थाम रखा। मगर गुलशन की बुलबुल करील की सूखी डाल पर तड़फड़ा उठी। मेरा चुलबुला दिल कुलबुला उठा—उस ऊमस से ऊब गया। मुहल्ले में दो-चार तबीयतदार यार जुट गए। फिर तो अत्तारखाने से लौटते रात होने लगी। शहरी लहर से कहाँ तक बचता? हवा लग गई। मक़बरों का चक्कर देता हुआ चौक पर जा निकला। चौक की सैर करता कोठे पर चढ़ गया। कोठे पर आते-जाते ग़लीचे पर क़दम रखा। बस, मंज़िल पर पहुँच गया। फिर तो हवा से बातें करने लगा। घर पर रोज़मर्रे हवा बाँधता और हवा हो जाता। चचा को हवा बताना तो आसान था, मगर चचानी ज़माने की हवा का अन्दाज़ रखती थीं। उनके कान खड़े हुए। मेरी जाँच-पड़ताल शुरू हुई। फबतियाँ पड़ीं। बोर्डिंग हाउस के लड़कों की तरह मेरी रात की हाज़िरी ली जाने लगी। उनकी नज़रों के सामने मेरी नज़रबन्दी चली।....ख़ैर, मैं कनकौएबाज़ी की ओर झुका। लखनऊ तो इसकी ख़ास जगह है। मैंने फिर परेते की डोरी हाथ में ली। छत पर पतंग उड़ाना शुरू किया।

"उसी मुहल्ले में मेरे मकान के मुतस्सिल लाला बिहारी-लाल का मकान था। आप ज़माने तक कश्मीर-दरबार में

मुलाज़िम थे। हाल में पेंशन लेकर घर लौटे थे। आपकी ख़ब्त भी अजीब थी। दिन-रात गीता पढ़ते और माला फेरते। जब सुनो तो राधेश्याम की रट लगी है।

"घर में दो नौकरानियाँ थीं; एक बूढ़ी विधवा बहन। और, कमला तो पिता के नाक का बाल थी। उसके चुलबुलेपन में एक रसीला बाँकपन था। पंजाब में पली थी। पंजाबी चाल-ढाल थी। न घूँघट था, न परदा। अठारह-उन्नीस का सिन—एक अल्हड़ लचीलापन।

"मुझसे आँखों की देखा-देखी थी तो ज़रूर, मगर उस देखा-देखी में आँखों की एक क्षणिक तरावट तक थी—कुछ दिल की शिरकत नहीं। और बात भी यह थी कि अभी शहरी पैंतरों से मैं पूरी तरह परिचित भी न था; न डोरी डालने की फ़ुरसत थी।

"उस दिन सावन का समाँ था। वही रसराज सावन—वही दिलदार सावन। गोधूलि की गुलाबी। बादल की टुकड़ियों में सुनहली लड़ियाँ पिरोई थीं। मेरे मन की माधुरी मेघों पर रंग भर रही थी।

"मैं छत पर चढ़ा सावनी मस्ती का मज़ा लूट रहा था। सहसा किसी के खिलखिलाने की आवाज़ कानों पर पड़ी। मैंने मुड़कर देखा, कमला थी। दाईं ओर छत पर खड़ी पतंग

उड़ा रही थी। वह तो पतंग उड़ा रही थी; पछैया उसका आँचल उड़ा रही थी।

"मैं पतंगबाज़ तो ज़रूर हूँ, मगर मैंने पतंग की उड़ान को देखा या आँचल की उड़ान को देखा—पता नहीं।

"अचानक उसकी लटें काली घटा की तरह पीठ पर खुल पड़ीं। वह उभर कर बिखरना मैंने देखा। क़यामत का तमाशा था! उसका आँचल उघर कर कमर पर लुट पड़ा। उस उघार में कुदरत का निखार नज़र आया। वह तो सुध-बुध भूली उड़ाने में मस्त थी—लचती, इठलाती, बल खाती, डोरी सरकाती, खींचती, ढील देती, झटका देती। उसका अंग-अंग मुस्कुराता, बोटी-बोटी फड़कती, रेशा-रेशा चमकता। इधर मेरी आँखों के सामने विश्व का ज़रा-ज़र्रा लरज़ने लगा।

"पेचा गुँथा हुआ था। वह गुँथी हुई थी। तब तक कोयल की कूक की तरह उसका कण्ठ फूटा—'वह काटा!'

"कौन कटा, पतंग या मैं—या दोनों—पता नहीं। मैं तो कट-कट गया।

"पतंग लूटने एक क़ाफ़ला टूटा। मुझे तो किसी की अदाओं ने लूट लिया। लटों के उभार ने लूटा; आँचल के निखार ने लूटा; डोरी के संचार ने लूटा।

"वह खिलखिलाकर हँस पड़ी। वह हँसी की झनकार मेरी शिराओं में झंनझना उठी। सावन की पछैया ने उसे लूटकर

विश्व के कोने-कोने में बिखेर दिया।

"मेरी ज़बान से फूट पड़ा—'शाबाश! क्या काटा है!'

"वह मुड़ी। सामते आई आँखें दिखाती, भवें तानती। वह अपनी छत पर थी! मैं अपनी छत के मुड़ेर पर था। बीच में तीन हाथ का फ़सला। उस मकान की छत इस मकान की छत से कोई दो बालिश्त ऊँची होगी।

"आँखें चार हुईं। एक बिजली-सी चमकी—जाने बादल में या उस चितवन में। बगलों की एक पाँति सरसराती हुई सर पर से निकल गई। पछैया का एक झोंका उसके आँचल से उलझकर मेरी गर्दन की चादर पर टूट पड़ा। उस पार नुक्कड़वाली चाय की दूकान से किसी के गाने की आवाज़, हारमोनियम की धुन पर थर्राती हुई, बिखर पड़ी—'मोरा तोरा रे नज़रिया से मिलना!'

"उसकी भवें तनी थीं। हाथ में कजाकी डोरी मौजूद थी। आकाश पर उसका कटैत पतंग हरहरा रहा था। वह ज़रा झिझककर बोली—'शर्म नहीं आती? चोर की तरह....'

'चोर! मैं या...'

"वह ठमकी खड़ी रही। तनी-सी, खिंची-सी।

'तो लो!'

"ऐं! यह क्या! उसने हाथ की डोरी तोड़ दी। पतंग चला। डोरी उड़ी, हवा उड़ा ले चली। मैं एक छलाँग में उसकी

छत पर कूद गया। एक चक्का भी पीछे पैर पड़ते, तो मेरा पता न चलता। सेने उचककर डोरी थाम ली। उसने कूककर कहा—'शाबाश।'

"मैं मुड़ा। आँखें चार हुईं। उसकी आँखों में मुसकान की रेखा थी. मेरी आँखों में आरती की शिखा।

"क्या आँखों ही आँखों में दिल का एलान हो गया? वह लजा गई। लजाते ही आँचल को संभाला, जूड़े को बाँध डाला, आँखें चुराईं; सिटपिटा गई।

"उसी लजाने में तो विश्व का सौन्दर्य निखर पड़ा। उसी लजाने में तो विश्व का माधुर्य बिखर पड़ा।"

"मगर क्यों?"

"यही पहेली तो शायद जीवन की प्रथम पहेली है। यही रहस्य तो शायद जीवन का प्रथम रहस्य है।"

"वह लजाती, मुस्काती सीढ़ियों से उतर गई। मैं कूदकर अपनी छत पर चला आया।"

"बस, उस दिन से मेरी आँखों के सामने की दुनिया जाने कहाँ उड़ गई। न वह रोजमर्रे की ज़मीन रही, न वह आसमान। न वह चौक का कूचा रहा, न वह परिचित जवानी की हवा रही। फूलों की गंध में एक नई मादकता, पवन की किलोल में एक नई चंचलता—विश्व के ज़र्रे-ज़र्रे पर एक नई आकुलता दुंद बाँधकर खड़ी हो गई। जो इश्क़बाजी मेरी दो घड़ी की दिल्लगी

थी, वह दिल की लगी बनकर ज़िन्दगी की मुराद हो गई। मेरी धमनी में रक्त का चांचल्य तूफ़ान बनकर खौल उठा। क्या कहूँ, मेरे सर पर वहशत सवार हो गई। मेरी तमाम जवानी इसी कूचे में गुज़रती चली आई थी, मगर यह प्राणसाबी पुलक, यह प्रलयी ललक, यह ज्वलन्त कसक तो बिलकुल नए तबक़े की थी! मैं रूप की आँच पर दिल सेंकता फिरता था ज़रूर, मगर दिल का मचल-मचलकर जलना क्या बला है, मैंने उसी दिन समझा।

"हुँ, तुम हँसते हो?....तुम इसे खाक समझोगे?—'कोई परवाने से पूछे कि जलने में मज़ा क्या है!' आख़िर कोई रंगीन, नमकीन चेहरा मेरे लिए कुछ संगीन नहीं था और न वही कुछ इन्द्र की परी थी, न सुरलोक की किन्नरी। फिर भी, उस तरुणी की चितवन में कौन-सी ऐसी तमंचे की चोट थी, जो कलेजे को एकबारगी पाश-पाश कर गई! कितने 'कानन-चारी नयनमृग' का मैं शिकार कर चुका हूँ! बड़ी-बड़ी आँखें मेरे लिए कोई नायाब नेमत न थीं, मगर भाई! 'कलेजे में जो चुभ जाए, उसी को तीर कहते हैं'!"

"तो फिर?"—मैंने बात तराशकर रहा।

"भाईजान, उन आँखों में एक अजीब बिजली थी—उन छलकते हुए प्यालों मे एक लौ की लकीर थी—जो तड़पकर कलेजे पर टूट पड़ती। तुम जानते हो, जल-भरे मेघों में एक

ज्वाला छिपी रहती है, जो जब उपटती है—आसमान से ज़मीन तक आग लगा देती है। कुछ वही कैफ़ियत उस चितवन की चोट में थी। जाने क्यों, वे आँखें मेरी आँखों में समा गईं, मुझ पर हावी हो गईं। उस बिजली के सामने बाज़ारू दियासलाइयों की लौ लुत्ती-सी उड़ गई।

'लूटा था उस निगाह ने मिलकर निगाह से,
चोरी गया था दिल इन्हीं आँखों की राह से!'

"अब मेरे लिये न चौक की सैर थी, न बाज़ार का चक्कर। सुबह, शाम, दोपहर, आधी रात—हर घड़ी छत की चहलक़दमी चली। वह बेहद ढीठ थी, बेहद निडर, बेहद ला-दिमाग़। बात की नौबत तो न आई, मगर आँखों-आँखों से शरारे, इशारे और पैंतरे जारी रहे।

"उस दिन घटा उमड़ी थी—काले-काले कजरारे बादल। झूम-झूमकर आते; उसके खुले बालों को चूम-चूमकर जाते। बूँदों की हल्की फुहियाँ थीं; हवा की अठखेलियाँ। उसका पालतू कबूतर उड़कर मेरी छत पर चला आया था। इसी टोह में वह परेशान थी।

"वह ज़ालिम मेरी छत के मुड़ेरे पर चुप बैठा था। मैंने लपककर उसे थाम लिया। वह मेरे हाथ की सफ़ाई देखकर हँस पड़ी—खिलखिला कर हँसी। हवा का एक झोंका आया। उसकी अबीरी साड़ी के आँचल का उड़ना था कि मेरे पैर

उखड़ गए। मैं तड़पकर उसकी छत पर जा कूदा। बस, उस परिन्द का तपाक से पेश किया। उसने हाथ बढ़ाकर मेरे हाथ से कबूतर को थाम लिया। उँगलिया से उँगलियों जो मिलीं, तो रग-रग में बिजलियाँ दौड़ पड़ीं।

"वह ज़रा सहमी-सी नज़र आई। मुस्कुराती हुई बोली—'कहीं पैर रपट जाते, तो जान····'

'जान पर खेलनेवाले जान जाने से नहीं डरते'—मैंने ज़रा हँसकर कहा।

'इस खेल की ज़रूरत ?'

'मेरे दिल की मसर्रत !'

'अच्छी दिल्लगी रही !'

'दिल्लगी रही तुम्हारी तुम्हारी ! मैं तो मर रहा हूँ !'

'मर रहा हूँ ?'

'जी हाँ !'

'वजह ?'

'चूँकि इसी मौत पर मेरी हयात है !'

"वह कनखियों से मुस्कुराई। ज़रा चुप रही। फिर एका-एक खिंचकर बोली—'तो आपने इसे बाज़ार का कोठा समझ लिया है ?'

'हर्गिज़ नहीं, मेरी ज़िन्दगी का आशियाना !'

'सच ?'

'मेरी रूह गवाह है।'

'तो जाकर लाला से कहो और यह छत पर छलाँगें भरना बन्द करो।'

'जो इरशाद!'

'मगर ठहरो; एक बात है।'—उसकी आवाज़ में प्रभुता का आभास था।

'कहो!'

'तुम्हारा विश्वास? तुम्हारी खानदानी ख़सलत मैं सुन चुकी हूँ। तुम्हारी आवारागश्ती···

'जब थी, तब थी। अब वह भूत सर से उतर गया।'

'हवा बताते हो! तुम्हारा ठिकाना!'

'मैं ईश्वर की शपथ देता हूँ।'

'ईश्वर! ख़ूब! तुम उनके कब····'

'तुम्हारी क़सम! मैं सच कहता हूँ।'

'मैं ही ईश्वर से बढ़कर हूँ।'

'तुम मेरी जान से कहीं प्यारी हो!'

'अगर तुमने फिर इधर-उधर निगाह दौड़ाई तो?'

'जीते जी नहीं। यक़ीन मानो, इस जन्म में अब दूसरी नहीं आ सकती।'

'ज़बानी कहते हो न?'

'हर्गिज़ नहीं, दिल से, जिगर से, रूह से, रोम-रोम से !'

'सच ?'

'प्राण दरमियान है ।'

'अगर तुम बदले तो याद रखना, मैं इसी कोठे से कूदकर जान दे दूँगी !'

'तुम क्यों जान देने जाओगी ? मुझे धक्के दे देना, मेरी खोपड़ी चूर-चूर हो जायगी !'

'मज़ाक करते हो ?'

'मज़ाक समझती हो ?'

'अच्छा, तो मैं गिरह बाँध लेती हूँ । मेरे साथ कजअदाई नहीं चल सकती ।'

'ऐसी नियत ही नहीं है । मैं हाथ काट चुका । गोली बन्दूक की नाल से निकल गई ।'

'हाँ, एक बात तो मैं भूल ही गई । लाला तो कट्टर वैष्णव हैं । और तुम खाते भी हो, पीते भी ।'

"मैं खाने-पीने से बाज़ आया । भला, मुझे इन रतनारी चितवन की मुश्की के आगे सुराही की सौंफ़ी की तलाश होगी ? मेरा नशा तो आप दून पर रहेगा । फिर नशे-पानी की ज़रूरत ?'

'तुम बात पर कुन्दन करना तो जानते हो, मगर बात के पक्के रहो, तब न तुम्हारी बात ...'

'फिर वही बात ?'—मैंने ज़रा भवें उठाकर कहा।

खैर, मेरी एक अर्ज़ तो कबूल रहे !'

"उस प्रार्थना की वाणी में भी हुकूमत की धुन थी। मैंने ज़रा गर्दन बढ़ाकर पूछा—'वह क्या ?'

'मुझसे शहर नहीं छूट सकता। किसी दूर गाँव में जाना मेरे लिए मौत का परवाना है।'

'क्यों ?'

'देहात में मेरी ज़बान खराब हो जायगी। मेरी जान····'

'बस करो, मुझे मंजूर है।'

'मैं तो उस वक्त इस हद तक डाँवाडोल था कि अगर वह कहीं सीने से कलेजा निकालकर सामने हाज़िर करने की ज़िद करती तो मैं सर टेककर कबूल कर लेता। भाई ! उस तिलस्मी चितवन के करश्मे तमन्ना के तमंचे थे।'

"तो शादी हो गई। मुराद पूरी हुई। चचा के तो जीने के लाले पड़े थे ! हौसले कहाँ उठते ? राग-रंग न हो सका। चचानी तो एक-एक पैसा दाँतों से उठाकर रखती थीं। अगर खर्च-वर्च का सवाल उठता, तो उनकी ज़बान को कतरनी तेज़ हो जाती जाती। मुझे किसी तरह बेड़ा पार करना था। इसलिए तुमलोगों को खबर देना फ़िजूल समझा।

"साल-डेढ़-साल तो बड़े मजे में कटे। मेरी जीवन-तरणी सरसराती हुई स्नेह-सागर में निकल चली ; गर्चे उसके मिज़ाज

की हवा के रुख पर मुझे जब-तब पाल घुमाते रहना पड़ता था। नई चाहत की नई लज्ज़त रही; नई तरंग की नई उमंग।

"बारहमासी सावन का समाँ बँध गया। किसी की लोनी लटों की काली घटा दिन-रात सर पर छाई रहती। रस की फुरहरी आठों पहर थी। उसकी एक-एक अंग-भंगी में लावण्य की बिजलियाँ थीं। रतनारी चितवन की कोर में अंगूरी के प्याले छलकते रहे। अब तुम्हीं कहो, मुझे तुम्हारी सावन की महफ़िल की ख़बर कहाँ होती!

"मैं अब ससुराल में आकर जम गया। वहाँ कोई था भी तो नहीं। बूढ़ी बूआ खाट सेती रहीं, बूढ़े लाला तीर्थ सेते रहे। घर पर आते भी, तो घर से कोई सरोकार नहीं रखते। कमला के हाथ में तो घर की बागडोर शुरू से ही थी। मगर, फ़र्क इसी क़दर हुआ कि पहले एक ही रास थी, अब पति और पिता की जोड़ी हाँकनी पड़ी।

"वैष्णव का घर था; आचार की भरमार! कट्टरता का आज़ार। छूतछात की विचित्र पद्धति। मैं कमला के अधरों से रस तो लूट लेता, मगर उसके जल के लोटे को मुँह तक लगाना मुहाल था। मैं उसे छाती से तो लिपटा पाता, मगर मजाल नहीं कि उसके चौके में क़दम रख देता। सुबह-शाम 'राधेश्याम'। वह खुद घंटों माला हिलाती, दिन में तीन बार नहाती। पूजा-पाठ की आठों पहर परिपाटी। उस घर में

तफ़रीह का तो गुज़र न था—हाँ, बस, एक कबूतरों की कलाबाज़ी थी या कभी-कभी छत पर पतंगबाज़ी।

"श्रीमती जी ज़रा मनमानी थीं। मान, ईमान और अभिमान—ये तीनों खानदानी देन थे। मिजाज़ में जितनी गरमी थी, उसकी आधी भी नरमी रहती, तो एक बात होती! वे ज़बान की तो पक्की ज़रूर थीं, मगर कान की बेहद कच्ची। इधर मेरा मुँह चूमतीं, उधर बाँदियों को मुँह लगाकर रखतीं। मुझ पर आठों पहर पहरा रखना उनकी पति-भक्ति का पहला सूत्र था। पति की सेवा और श्रद्धा तो उनकी नस-नस में भरी थी। मगर साथ-साथ शासन और सुशृङ्खला की पाबन्दी भी शिराओं में भरपूर थी। आँखें दिखाने में तो फर्द थीं, मगर पीठ तो वे न पिता को दिखा सकती थीं, न पति को। उनकी बात का जवाब देना सर पर अज़ाब मोल लेना था। उनको बराबर अपनी राय पसन्द थी, अपनी बात पसन्द थी, अपनी चाल पसन्द थी।

"जिन आँखों पर खुदपसन्दी की ऐनक चढ़ी रहती है, उन आँखों का परदा तो शायद खुदा मियाँ भी नहीं उटा पाते।

"नारीत्व के भूषण का भूषण लज्जा उनके सर की शिरोभूषा न थी। यह ज़रूर है कि घूँघट काढ़कर शर्मातीं नहीं; पर बेशर्मी को तो वे फूटी आँखों भी नहीं देख पातीं। पर्दे से इनकार था;

पर बेपर्दगी के लिए नंगी तलवार थीं। लिहाज़ तो यह था कि काश मेरी उँगलियाँ उनके पैर छू जातीं, तो वे दाँतों में तिनका लिये मेरे पैरों पर लोट जातीं। और ढिठाई यह थी कि काश मैं चिराग जले घर से बाहर जाना चाहता, तो ड्योढ़ी का दरवाज़ा बन्द करवा देने में ज़रा भी हिचक न थी।

"मेरे सर में अगर ज़रा-सी टीस भी होती, तो उसकी भूख-प्यास हिरन हो जाती। घंटों सर गोद में लेकर सहलातीं—टीपतीं; मगर कहीं मैं उनकी बाँदी की बेटी रधिया को महज़ तफ़रीहन भी छेड़ बैठता, तो फिर मेरे सीने पर सवार होकर उसी सर का कच्चा खा डालने में उनकी ज़बान को लिहाज़ न था।

"मैं क्या खाऊँ, क्या न खाऊँ; क्या पहनूँ, क्या न पहनूँ; कहाँ जाऊँ, कहाँ न जाऊँ; कब सोऊँ; कब न सोऊँ,—दाई या बाई करवट; क्या पढ़ूँ, क्या न पढ़ूँ—बस, मेरी दिनचर्या की तमाम बातों में उनकी कड़ी निगाह बराबर रहती। मेरे सर पर गुलरौग़न की मालिश मुलायम उँगलियों से रोज़मर्रे कर देना, चूल्हे की आँच में पककर मेरे लिए पिस्ते की गिलौरी और जाफ़रानी रबड़ी तैयार कर देना, मेरे पान के बीड़े में केवड़े में भिगोई हुई छालियाँ भर देना, दोनों वक्त को रोटी के बाद औंटा हुआ केसरिया दूध का कटोरा अपने हाथों हँसते-हँसते पेश करना, आधी रात तक जगकर

मेरे तलवों को आँचल से सहलाते रहना—ये सब उनकी ख़िदमत के तरीक़े थे। मैं क्षण-भर भी उनकी आँखों की ओट होता, तो उनके होठों पर जान आ जाता। अगर मुहल्ले की किसी कर्मासिन लौंडी का ज़िक्र मेरी ज़बान से भूलकर भी निकल गया, तो वे इस ज़ोर से फट पड़तीं कि झट उनकी आँखों में लहू उतर आता। अगर कभी किसी दिन चचानी के इसरार पर मैंने वहाँ कुछ खा लिया और वापस आते एकाध पहर रात चली गई, तो घर लौटने पर मुँह चूमने के बहाने वे मेरा मुँह सूँघतीं!

"भाई, कुछ दिनों में यह प्यार का अम्बार मेरे सर पर भार हो गया। मैं रस की ऊमस से विवश हो चला। इस प्रेम के नेम से, इस प्यार के अत्याचार से, जी ऊब गया।

आखिर आठों पहर दूध और मलाई की मिठास गले की फाँस हो गई। मोतंजन से मनोरंजन ज़रूर है, मगर वह रोज़मर्रे का भोजन नहीं। सामने की क़बाब-रोटी की दूकान से प्याज को बिरियानी की गंध पोर-पोर में कूलाँच भरने लगी। श्यामलाल की बैठक से सारंगी की रिमझिम से मिली हुई घुँघरू की खनक मेरे लहू की आँच को कुरेदने लगी। साथ-साथ किसी शोख के तरुण कण्ठ की काकली मेरी छाती की पंजरियों में झङ्कार दे उठी। सावन की घटा उमड़कर तुम्हारी महफ़िल का संदेसा सुना गई। बूँदों को झरी में मुझे मीने की

परी नज़र आई। ठंढी हवा के झोंके मेरे प्राणों में ताजी अधखिली कलियों की माधुरी उड़ा लाये। फगुनहट की मस्ती मुझे होली की चुहलों की याद दिला गई। मधुमास की रुपहली चाँदनी मेरे दिल के कानों को किसी गोपन-रहस्य की कथा कह गई। ग़रज़ कि क़ुदरत की एक-एक रंगीनी मेरे प्राणों के सुकोमल तन्तुओं पर उँगलियाँ देने लगी।

"मैं पागल सा हो चला! उधर ज़बान की पाबन्दी, इधर ज़बान की बेकली; उधर बीवी की वफ़ा, इधर दिल का तक़ाज़ा। उधर ईमान का विषम दंशन, इधर धमनी में रक्त का प्रलयी स्पन्दन; उधर स्त्री की सतर्क दृष्टि, इधर सावनी की रसभरी वृष्टि।

"चचा को फिर दौरा हुआ। हकीम साहब के नुस्खे निशाने से चूकते गए। उनकी हालत बदलती गई। मुझे अब घंटों उनकी तीमारदारी में खटना पड़ता। कमला जी मसोसकर रह जाती। किसी दिन तो उनके सिरहाने रात आँखों में काट देता। कमला खुद आकर रात में दस बार मुआयना कर जाती। कभी दाई आकर रिपोर्ट ले जाती!

"अकस्मात् एक दिन तार आया कि मेरे ससुर 'हरि की पैरी' पर नहाते वक्त बेहोश गिर पड़े—पंडे के घर कनखल में पड़े हैं। कमला की तलबी थी, मेरी भी। वह अजीब खींच-तान में पड़ी। यहाँ मेरे चचा की नाव डूब रही थी। रसायनों

की भरमार पर धुकधुकी टिकी थी। आखिर उसे अकेली जाना पड़ा। बूढ़ी फूआ सिर हो गईं, साथ गईं। वह जाते-जाते सैकड़ों ताकीदों की झड़ी कर गई। मैंने भी आँसू की झड़ी से उसके आँचल को तर किया।

"क़ैदखाने से छुट्टी हुई। मैदान खाली पाया। मेरी धमनी में रक्त का चांचल्य तीव्र हो उठा। मैंने चचा के मकान की छत पर अड्डा जमाया। अत्तारखाने से दवा लाने के वक्त गद्दीखाने से ठर्रे की बोतलें चादर में चुराकर लाता।

"और सुनो, मेरी चचानी की एक बाँदी थी, बूटी। वह बाँदी क्या थी, सहेली थी। उसे अभी तक किसी शरीफ़ की रखेली होने का रुतबा नहीं मिला था। जानवरों की थूथन-सी उसके मुँह की मोहरी थी सही, मगर थी ज़रा चुलबुली—कंघी-चोटी की शौक़ीन। मुझे तो उसकी शक्ल से नफ़रत थी। मगर क्या करता? इधर लहू में शरारे कुलाँच भर रहे थे। मुँह का ज़ायका बदलने के लिए नीबू का अचार नहीं, तो नीबू का काश ही सही। सुराही की अंगूरी नहीं मिलती तो पेंदे की तलछट ही सही। इतने दिनों तक एक रस-सेवन से मेरी लालसा की चटोरी चाट दून पर थी। मैंने बात-की-बात में उसे फाँस लिया।

"अब वह बाज़ार से भुनी हुई चटपटी कलेजियाँ चुपके से खरीद लाती। दस बजे रात तक मेरी ड्यूटी खतम हो जाती।

फिर तो छत पर चढ़कर छूटकर जश्न होता। बस, रस-संचार की तीनों धाराएँ मिल गईं—कबाब, शराब और शबाब। भला, यह लुत्फ़ किसी पाक-दामनी घरनी के घाँघरे के साये में कभी मुमकिन है? वह खुद खाती-खिलाती; पीती-पिलाती। उस बिचारी को शक़ और शऊर न हो, मगर रस की किलोल में वह अनमोल थी।

"एक दिन मैंने उसे कमला की बाँदी की बेटी राधिया से हँस-हँसकर बातें करते देखा। मेरा माथा ठनका। मैंने उसे बुलाकर बड़ी जली-कटी सुनाई—'यह तुमने क्या ग़ज़ब किया! कहीं वह मालकिन से कह देगी, तो हमारी-तुम्हारी दोनों की गर्दन उतर जायगी!'

'आप इतमीनान रखें। वह मेरी जानती है, मैं उसकी जानती हूँ।'

'तुमने कहा क्या?'

'वह मेरी सखी है।'

'फिर मैं तो लुटा!'

'मैं उसे आज रात को यहीं छत पर बुला लूँगी। आप जानते नहीं। रस चख लेगी, तो फिर ज़बान को मुँह में रख लेगी। यही दस्तूर है।'

"मैं उस पट्टी में आ गया। वह बुला तो सकी नहीं, मुँह में ज़बान रखने की ज़बान ले आई। मगर उस हरामज़ादी के

के ज़बान के तले दूसरी ज़बान थी। मैं ग़रीब उन बाँदियों के आपस की जलन का शिकार हो गया।

"टहटही चाँदनी थी—दूध की धोई। सुनसान सन्नाटा। फिर-फिर ठंडी हवा। सड़क के किनारे फूली हुई नीम दोनों हाथों से मद लुटा रही थी। उसकी फुनगियों पर फूलचुम्भों की चुहचुहाहट किसी रहस्य की आहट देती थी। मैं एक मस्ती की मसरत में शराबोर था। ड्यूटी से छुट्टी मिल चुकी थी। बूटी की बाट जोह रहा था।

"वह आ ही गई। आँचल में मछली के गरमागरम कोफ़्ते, कुछ चटपटे दही-बड़े। फिर क्या था? होंठ लपके। नथने फड़के। प्यालियाँ चनकीं। चूड़ियाँ खनकीं। चाँद की किरण ने रेशे-रेशे में रस का सिंचन कर दिया। नीम की फूली फुनगियों ने अन्तर में मादक इत्र बिखेर दिया।

"हठात् सामने की छत पर किसी के पैर की आहट पड़ी। मैंने मुड़कर देखा, कमला थी। अपनी छत के मुँड़ेरे के पास खड़ी-खड़ी एक टक देख रही थी। चाँदनी में वह नंगी तलवार-सी चमचमाती तनी थी। सरापा सुफ़ैदपोश। उसके होठों पर कँपकँपी थी। अंगों पर थरथरी सोना उठ-उठकर फूल रहा था। आँखों से शरारे छूट रहे थे। उसने जलती हुई आँखों से मुझे देखा। मुझे तो जैसे काठ मार गया। काटो तो खून नहीं। वह एकाएक ठठाकर हँस पड़ी! एक विचित्र विकट बीहड़ ही-

ही। वह अट्टहास रात के सन्नाटे में गुँजता हुआ आकाश में भर गया। चिड़ियाँ घोसलों में अकचका उठीं। फिर एक भर्त्सना-भरी ज़बान की छुरी—छिः छिः! तुम ऐसे...."

"बस। वह तड़पकर मुँड़ेरे पर कूद पड़ी। पैर रपट पड़े या जान-बूझकर—कौन कहे?—दोनों छतों की फाँक में जा पड़ी। नीचे गच पर तड़ाक की आवाज़ हुई—'आह!' और फिर सन्नाटा!"

× × × ×

गोपाल बाबू खब्ती-से-हो रहे। उनकी ज़बान तालू में सट गई। आँखें टँग गई। मैं डर गया। चट एक गिलास जल लाकर दिया। वे गट-गट पी गये। फिर सँभलकर सहमे हुए बोले—"भाई, आज तक मेरा प्रायश्चित पूरा न हुआ। लखनऊ तो छूट ही गया। न चचा बचे, न ससुर रहे। मुझे मोटी रक़म तो हाथ लगी, मगर कहीं धन से किसी के जीवन का सूनापन भर सका है? दो साल हो गए—फलाहार करते, पानी पीते। मैं रोता हूँ—तड़पता हूँ। माँफ़ी माँगता हूँ। तीर्थों की खाक़ छानता हूँ। साधुओं की चिलम भरता हूँ। मन्दिरों की चौखट पर सर पटका। गुरु-पुरोहितों की फ़रमाइशें पूरी कीं। मगर सब बेकार—सब बेकार!"

"मेरी समझ में नहीं आता, तुम इस क़दर पस्त क्यों हो गए? तुम्हारी तो गर्दन उस चुड़ैल की फाँस से छूट गई—

आज़ादी के नग़मे...."

"भाई, मेरे सर के बादल अगर सावन के बादल बन जाते, तो सच मानो, मैं मोर की तरह चहकता रहता। मगर अफ़सोस, ये बादल न गरज-बरसकर ठंढे पड़ते हैं, न पच्छिम से उड़कर पूरब जाते हैं।"

"तो फिर ?"

"जमे हुए हैं। आग-भरे, गजा-भरे। बात तो असल यह है कि वह माफ़ी नहीं देती !"

"म्याँ, अब माफ़ी का सवाल कहाँ है ? क्या उस पार से तुम्हारी नकेल थामे हुई है ? आख़िर तुमने उसका बिगाड़ा क्या था ? कोई झोंक में आकर खुदकुशी कर ले, उसके तुम ज़िम्मेवार होगे ? तुम्हीं कहो न, कहीं ज़िन्दादिल शौहर भी कभी बीवी के आँचल के खूँट में दिल बँधा पाया है ? हमारी मर्दानगी की कुलाँच पर कभी किसी बीवी की आँच लगी है ?"

"तुम जानते नहीं, वह दूसरे कमाश की औरत थी। मुझसे ज़बान जो ले चुकी थी !"

"ज़बान ! कहाँ की ज़बान ? शादी के वक्त ज़बानबन्दी नहीं होती—वह भी, जो देवता को साक्षी देकर होती है ! आखिर उसपर कोई टिकता है ? सिर चीरते-चीरते तुम्हारा सिर फिर गया है। प्रपंची पंडितों ने तुम्हें अच्छा शिकार पा लिया है। इन्हीं ढकोसलों में तुम्हें तबाह कर डालेंगे। जो बात

हो चुकी, बह हो चुकी। भूल जाओ। खाओ, पीओ, रंग करो। मैं तुम्हारे लिए ऐसी बहू ''

"तुम मेरी मजबूरियों को जानते नहीं। वह चुड़ैल आज भी मेरा पिंड नहीं छोड़ती। उसकी कशाकश चितवन....."

"यह महज तुम्हारी खयालदिमागी है। मैं कहता हूँ, मैं दो दिन में यह....."

"भाई, हाल की बात है। मेरी तबीयत कुछ सँभली-सी थी। अयोध्या से लौटते मैं बनारस उतर पड़ा। अस्सी घाट पर ससुर का एक दुतल्ला मकान है। वहीं ठहर गया। मन्दिरों में मन्नतें तो थी हीं, कभी-कभी दिल में तरंगें भी झाँक जातीं। बनारस की आबोहवा में मन की हवा हवा बाँधती है। तीर्थों में फरमाइशी रस की गुंजाइश न होती, तो कोई गंगाजल में कमण्डल थोड़े डुबोता फिरता! वहाँ उपासना की आड़ में वासना की लता लहालोट रहती है। एक दिन जरा बन-ठनकर निकला तो कचौड़ी-गली के मोड़ पर विनोदी से भेंट हो गई। वह कचौड़ी-सी खिली हुई थी। विनोदी तुम्हें याद है न!—रतन की वही विधवा बेटी!"

"हाँ, तुम्हारी पुरानी खब्त!"—मैंने जरा हँसकर कहा।

"अरे भाई! वह आजकल काशीवास का लुत्फ उठा रही है! बनारस की गली तो कुल्हिया में गुड़ पकाने की खासी जगह है। घर से निकली क्या, बस गई। यह बिगड़ना है, तो

फिर बनना क्या है? शाम का नाम भी है, रोटी-दाल का आरमान भी। छाती के ऊपर सोने में मढ़ा हुआ सीतापति का चित्रपट है; छाती के भीतर लालसा में पला हुआ एक चुलबुला दिल। लिबास सादी, मन रंगीन। पूजा-पाठ का ठाट भी है, रस की चोरी की चाट भी। गुलगुले से गुलफुल गाल, रस-भरी जलेबी-से होंठ, संकोच-भरी लोच-भरी गर्दन, चुहल-भरी, चाह-भरी चितवन!"

"तुम करम के माँड़ ठहरे!"

"पहले तो ज़रा खिची हुई नज़र आई। यह उसका खिचना भी जरूरी था। नहीं तो शायद इस आसानी से मैं खिचकर दुलक नहीं पड़ता। ओ हो, मेरी नस-नस में बिजलियाँ समा गईं। छेड़छाड़ चली। वह बात पर आती नहीं थी। उसने मन्दिरों की महिमा सुनाई, मैंने मनोमन्दिर की महिमा जताई। उसने काशी-महात्म्य की कथा कही, मैंने हृदय-माहात्म्य की व्यथा कही। बातें में शाम हो गई। वह एकाएक मुड़कर लौट पड़ी। मैंने समझा, मेरी अर्जी ना-मंजूर हो गई। मगर, गली में मुड़ते वक्त कनखियों से हँसकर रात को किवाड़ खुला रखने की सलाह दे गई।

"गली अँधियरी। बूँदा बूँदी की काकली। घाट की सीढ़ियों पर हौले-हौले पानी का छप-छप। हवा किवाड़ पर टकराती, फिर कमरे में घुसकर मशहरी को छेड़ती। सेज पर

धोई चादर मुस्करा रही थी। सिरहाने जूही के गजरे की गमक किलोल करती रहती।

"कभी-कभी किसी अज्ञात आशंका की बेकली भी झाँक जाती। कभी इन्तज़ार की मीठी टीस भी टपकती।

"दुतल्ले पर मैं अकेला ही था। नीचे आँगनवाले घर में नौकर सो रहा था। सीढ़ी के किवाड़ जुटे तो थे, मगर थे खुले।

"'आखिर वह कब तक आएगी? आधी रात के पहले तो वह आती नहीं। डरेगी तो नहीं? डरेगी क्यों? वह तो बनारस की अँधेरी गलियों की बिल्ली है।'

"ठंडी हवा थी। मुझे थम-थमकर झपकी-सी आती। सड़क के किनारे कोई मीठे स्वर में झूम-झूमकर गा रहा था—'अँधेरी अहै रैन, सजन रहिहैं कि जइहैं।'

"एक-एक कड़ी सुर में विभोर हवा पर थिरकती हुई आकर मेरी चेतना पर रेशमी थपकियाँ देने लगी।

"सहसा हवा का एक झोंका-सा आया। खूँटी की लालटेन भुक-से बुझ गई। कमरे में अँधेरा छा गया सुन्न-सन्नाटा—सायँ-सायँ। झींगुरों की झङ्कार। मेरे रोएँ खड़े हो गए। किसी के पैरों की आहट छत पर पड़ी। मैंने साँसी में पुकारा—"विनोदा?'

"एकाएक निस्तब्धता को बेधती हुई छतपर किसी के विकट

अट्टहास की आवाज़ गूँज उठी—'ही-ही-ही-ही'। वह ही-ही फ़ौरन छी-छी में परिणत हो गई। छी-छी! छी-छी!—दीवारें लरज पड़ीं। पलँग थरथरा गया। गली की लालटेन की धुँधली आभा छत के एक कोने पर बिखरी पड़ी थी। वह भी काँप उठी। मैं डरा, चौंका। सामने छत के मुंडेरे के पास एक सुफ़ैद शक्ल खड़ी थी। सुफ़ैद धोती, सुफ़ैद कुरती। माथे पर सिन्दूर जल रहा था। आँखों से अंगारे बरस रहे थे।

"ऐं! यह कौन!····कमला? छाती धक्-से कर गई। पसीना छूट चला। दियासलाई जलाई; जला न सका····उँगलियाँ विवश गईं! मैंने नौकर को पुकारना चाहा—कण्ठ बन्द! उठना चाहा, उठ न सका। पछाड़ खाकर वहीं पट पड़ गया। आँखें मूँद लीं।

"दूसरे ही क्षण किसी के कमरे में घुसने की आहट मिली। किवाड़ पर एक ठोकर, फिर साँस की आवाज़ मिली—'सो गए?'

"जान में जान पड़ी। मैं उठ बैठा।

'तुमने भी हँसी सुनी?'

'हँसी?'

'हाँ-हाँ, जन्नाटे की हँसी।'

"अरे, टिटहरी चीख़ रही थी—टिटहरी!'

'नहीं-नहीं।'

"दुत्, गंगा की लहर पर हवा हरहराती होगी। भरमते तो नहीं थे ? दियासलाई कहाँ है ?'

"रोशनी जली—भुक-भुक, धीमी और धुँधली। उसने ओढ़नी उतारकर दरी पर फेंक दी। गर्दन से राम की तस्वीर-वाली घुंडी उतार डाली, माथे से छुलाई और पलँग से दूर रख दी।

"वह पलँग के पास आई खड़ी हो गई।

'ऐं। तुम्हारी आँखें क्यों चढ़ी है ? डर गए थे क्या ?'

'नहीं-जड़ैया का ज़ोर था।'

'जड़ैया ? कब से ?'

'शाम ही से। कुछ खा भी न सका !'

"उसने मेरे ललाट पर हाथ रखा और कहा—'पसीना छुट रहा है !' छाती पर हाथ रखा और बोली—'छाती क्यों धड़क रही है ? सो रहो। पैर सहलाए देती हूँ।'

'तुम्हें फ़िजूल ही····'

'झखो मत। तुम्हारी याद मेरी रूह के साथ रहती है।'

'वह स्नेह की वाणी कलेजे में घर कर गई। एक दिन मैंने उसका सर्वस्व लूट लिया था। उसकी यह ममता ! और वह···। उस पार जाकर भी मुझे दम नहीं लेने देती। मैं लेटे गया। वह तलवे सहलाने लगी। आँख न लगी। मैं सोता-जागता रहा। रोशनी फिर बुझ गई या मेरी आँखों पर अँधेरा

छा गया—पता नहीं।

"मगर, मशहरी के चारों ओर किसी की तप्त उसाँस चक्कर काटने लगी। एक छी-छी, सी-सी आयँ-सायँ की अशरीरी भयावनी धुन अँधेरे में तिलमिलाती फिरती थी। कभी पैताने, कभी सिरहाने। विनोदी मेरे पैर के अँगूठे उँगलियों में थामे ऊँघ रही थी। मुझे तो काठ मार गया था! न नींद थी, न तस्कीन।

"अचानक वह सी-सी की सुरसुरी छत की ओर मुड़ी। वहाँ जाकर एक विकट हौल में परिणत हो गई। भीषण। झंखार! फिर वही आवाज़—'छी-छी!'

"मैंने चादर की फाँक से छत की ओर देखा; उस लोमहर्षण शब्द पर आकार भर रहा था। छायामय रूप—अपरूप रूप। धीरे-धीरे सरापा एक शक्ल बन गई। कठोर, कराल, अलौकिक। सुर्फ़ दपोश। लम्बे, काले, बिखरे बाल। साँप की आँख-सी आँख। खून की तलवार-सी माँग। एक-एक लट नागिन की लोल जिह्वा-सी लपलपाती। एक-एक दाँत छुरी की धार-सा चमचमाता।

"दो शीर्ण भीषण उँगलियाँ मेरी तरफ़ तन गईं। मुझे इशारे देने लगीं। वे लम्बी होती गईं। मशहरी के पास तक बढ़ती हुई चली आईं। मैं डर गया, कहीं वे गर्दन न टोप लें! मैं पसीने-पसीने हो गया। जाने क्यों; उठ पड़ा। उन उँगलियों के

संकेत पर चला। वे सरकतीं गईं; मैं बढ़ता गया—विवश, बे-सुध। कमरा पार किया। छत पर आया। आगे बढ़ा।

"एकाएक पीछे से किसी ने सशब्द झटका दिया—'कहाँ जा रहे हो? देखते नहीं, छत का मुँड़ेरा टूटा है।'

"मैं सँभल पड़ा। आँखें खुल गईं। देखा, तो कहीं कुछ नहीं। महज़ आँगनवाली मौलसिरी की एक सघन डाल को परछाईं गली की लालटेन की धुंधली रोशनी में छत के एक ओर थर-थर काँप रही है। दो जुगनू उड़ती हुई लुत्ती की तरह सामने भुक-भुक कर रहे हैं।

'तुम्हें सपने में चलने की लत तो नहीं है? मेरा भाई इसी तरह कोठे से गिर गया था।'

"मैं चुप था। लौट पड़ा। सर उड़ा जा रहा था। छाती उड़ी जा रही थी। पलँग पर जाकर लेट गया। मुझे सचमुच बुखार हो आया। देह टूटती, कमर टीसती।

"पौ फटते ही बिनोदी हिरन हो गई। उजेला हुआ—चारों ओर बाहर, कुछ मन के भीतर नहीं। वह रात की विभीषिका इसी अँधेरे में आकर बैठ गई। मन उचट गया। मकान काटने दौड़ा। मैं एक छन फिर काशी में न टिक सका। चल दिया।

"बस, मारा-मारा फिर रहा हूँ—गुनियों के घर-घर,

फकीरों के दर-दर। कहीं कुछ कारगर नहीं होता।

'तबीबों से मैं क्या पूछूँ इलाजे दर्दे दिल अपना,
मरज जब जिन्दगी खुद हो तो फिर उसकी दवा क्या है!'

"रात तो मौत की रात हो जाती है। जब सोता हूँ—जहाँ सोता हूँ, वही विचित्र ददनाक बोहड़ हँसी। भयावनी वही मर्मभेदी छी-छी। नींद के पहले आकर मेरे पलँग की मशहरी के चारों ओर अट्टहास भरती एक विचित्र छाया-सी शक्ल, दो अशरीरी उँगलियाँ मुझे जहन्नुम के इशारे देती हैं।"

"यह सरासर तुम्हारे दिमाग की कमजोरी है।"···मैंने बात काटकर कहा।

"तुम मानते नहीं। तुम इस चक्कर में आते, तो जानते। बीवी को मरे मुद्दत हुई; अब तक मैं कौपीन बाँधे फिरता? पर बँधे न रहते तो न जाने कितनी उड़ान ले चुकता! सच मानो, वह हहास-भरी हँसी मेरी गर्दन की फाँसी हो रही है। वह लांछना-भरी 'छी-छी' मेरे प्राणों में चुभती चलती है। उसे मैं आकाश के मूक आह्वान में सुनता हूँ, सन्ध्या के सुनसान में सुनता हूँ; निशीथ के पल्लव- मर्मर में, रेल के पहियों के घर्र-घर्र में सुनता हूँ; गंगा की लहर में—पक्षियों के कलरव में—सुनता हूँ। जब कभी वह ध्वनि मूर्त्त होकर आती है, तो यकीन मानो, एक माया-मण्डित मूर्त्ति—ज्वलन्त चितवन, ज्वलन्त सीमन्त—इस विश्व-चराचर

के ज़र्रे-ज़र्रे पर प्रतिभात होती है। मैं उसे छत पर, दीवार पर, फूल पर, पत्ते पर, जल पर, थल पर, मकानों की चौखट पर, नदियों के तट पर, मन्दिरों के पट पर—हर जगह खड़ी देखता हूँ। भाई, मेरी जवानी ढली जा रही है, मगर बरसों से एक दिन भी प्याली न ढली। मेरी हसरत दिल में दर्द बनकर उठती है और बैठ जाती है। न मरता हूँ, न जीता हूँ। अब यह अरमानों की अमराई उजाड़ हो चली। गुरु महाराज की निगाह में किसी के जीवन का खँड़हर भले ही नन्दन का सोपान हो, मुझे तो कराहों की राह में उछाह नहीं मिलता, न मेरे आँसू की ओस पर किसी की करुणा की किरण ही चमक पाती है। जब दिल ही दफ़न हो चुका, तो फिर उस क़ब्र पर कोई दीप दिखाये या फूल चढ़ाये। जो उस राख की ढेरी की तह में सो रहा है, उस बेचारे तक तो न श्रद्धा की आरती पहुँचती है, न फूलों की सुगन्धि! सच मानो; आज भी जी रहा हूँ—यही अचरज है—

'यह सौदा ज़िन्दगी का है कि ग़म इन्सान सहता है।
नहीं तो है बहुत आसान इस जीने से मर जाना।"

मैं तो चुप था। हज़रत एक दिन बहुत बढ़-चढ़ के हाथ मारा करते थे! न जाने किस कमाल से आप-ही-आप मुश्कें बँध गईं! जरा ठहरकर कहा—"तुम्हें डर समा गया है। और कोई बात नहीं। अगर वह चुड़ैल सिर ही हो गई हो, तो

तोता मत पालो। बनकट बाबा के निकट क्यों नहीं जाते? वे तो बड़े पहुँचे हुए फ़क़ीर हैं!"

"वहीं तो जा रहा हूँ।"

'क़ब?"

"कल।"

५

ज़माने पर घर लौट रहा था। स्टेशन पर उतरा, तो एक्का नदारद। इधर दबे पाँव रात आ पहुँची। पन्द्रह मील का फ़ासला। अड्डे पर आया, तो ऊँटगाड़ी मिली। ग़नीमत थी। एक कोने में मुश्किलन दो वालिश्त जगह थी। जो दस-पाँच जात शरीफ़ पहले से आकर जम चुके थे, वे एक तिल भी हिलने की तैयार न थे। लाचारी थी। सर के बल घुसा।

ख़ैर, गाड़ी चली। घंटे में आध कोस की चाल। लचर-लचर, मचर मचर। कभी लचती, कभी लरज़ती, कभी मड़-मड़ाती, कभी एकाएकी खड़ी हो जाती। जब गाँवों से गुज़रती, गाड़ीवान बिगुल फूँकता। कुत्ते भूँकते। हाँक-डाक चलती। मुसाफ़िरों की तलाश थी। खुदा जाने, और आते किस फाँक में ठूसे जाते! मुझे तो छठी का दूध याद आ रहा था। कमर

सीधी करना तो दरकिनार रहे, सर भी नहीं सरका पाता। तख़्तों की रगड़ से पीठ छिलती। पहियों की मचमचाहट से कान फटते। उस पर बच्चों की काँय-काँय। देहातियों की चाँय-चाँय। दो पग्गड़वाले पीकर टन थे। बे-बात की बात पर बात बढ़ गई। हाथापाई की नौबत आ जाती। कभी पट पड़ती, कभी उपट पड़ती। सहसा एक को नाक बजने लगी। दूसरे ने क़ै करना शुरू किया। बदबू से दिमाग़ खौल उठा। मैंने क़सम खाई—रथी पर चढ़ना मंजूर है, मगर ऊँटों के रथ पर नहीं। यह ऊँटगाड़ी की सवारी चार कंधों की सवारी हो जाती, तो जान बचती!

आखिर रात आँखों में कटी। मुबालग़ा नहीं, रात-भर में रूह फ़ना हो जाती, अगर अँधेरे में चारों ओर झमकती झबियों की झंकार थम-थमकर रस का छिड़काव न करती रहती।

सुबह आठ बजे गाड़ी मंज़िल पर पहुँची। सराय के पास बरगद के साये में खड़ी हुई। सब लोग जाने के लिए उतर पड़े।

मैंने घर का रास्ता लिया। तालाब के किनारे मंटू मिला।

"तुम कब आये?"

"तुम कब आये?"

"चलो, घर चलो।"

घर पहुँचा। सामने गोपाल बाबू और मीर साहब मौजूद। आज दोनों की धज देखते ही बनी। वही पुराना ठाट-बाट।

गले-गले मिले।

"तुम कब आए ?"—मैंने गोपाल बाबू की ओर मुड़कर पूछा।

"परसों।"

"मुद्दत पर घर की सुध आई !"

"दो बरस कहो। तुम्हें याद होगी, जब मैं बनकट बाबा की तलाश में····"

"हाँ, ठीक तो—खैरियत····"

"शुक्र है। वह छाती का पत्थर टल गया। नजात मिली।"

"तो जलसा करो ठाट से ! थे कहाँ ?"

"कमच्छा।"

"खूब ! बंगालिनों की जादूनज़री से बच आए ? सुनता हूँ, वहाँ वे जवानों को भेड़ बनाकर पालती हैं !"

"मैं तो गले की फाँस छुड़ाने गया था, फिर बँधने जाता ?"

"तो आज खसी कटेगा ?"

"ज़रूर ! और प्याली भी ढलेगी !"

"सुभानल्लाह ! तुमने ढालना भी शुरू कर दिया ?"—मीर साहब ने कहा।

"आज से सब छुट्टी है। कल मैंने कंठी तोड़ डाली !"

"गर यार न हो साक़ी, पैमाना हुआ तो क्या ?"—मीर साहब ने छेड़ा।

"ज़रा सावन के बादल तो उमड़ने दो ! अभी तो असाढ़ की चिलचिलाती धूप है !"

"म्याँ, असाढ़ की झिलमिलाती छाँह भी है ! बादल की टुकड़ियाँ अटारियों पर उभरने लगी हैं !"

"लालू, तुम्हारे मुहल्ले की मालिन तो ग़ज़ब ढा रही है, यार !"

"कौन ?"—मैंने ज़रा अकचकाकर पूछा।

"वही चमेली ! बरसाती नदी की तरह उमड़ पड़ी है। मैं तो उसे एक पतली लकीर देख गया था। आज तो वह उभरकर दोनों बाजू से भर उठी है !"—गोपाल बाबू ने आँखें नचाकर कहा।

"लिल्लाह ! तुम उस बाढ़ से अलग रहना ! कहीं भँवर-चक्रोह में जा पड़े, तो हड्डियों का पता तक न चलेगा !"

"अजी, छाती काफ़ी चौड़ी है। अन्देशा नहीं !"

"हुआ करे, यहाँ सवाल है—आपकी पीठ की खाल काफ़ी मोटी है या नहीं !"

सभी हँस पड़े।

"तुम्हारी शादी हो जानी ज़रूरी है !"—मैंने ज़रा गरम होकर कहा।

"शादी ? बीवी की जी-हुजूरी ?"

"शहरी बीवी नहीं, देहाती। जिसे दिल हो, दिमाग़ नहीं।

लिहाज़ हो, मिज़ाज नहीं। उसकी नकेल तुम्हारे हाथ रहेगी। घर में डाल दोगे, तो बाहर कुलाँच भरने में भी तुम्हें आसानी होगी!"

"तो फिर सावन आने के पहले आती!"

"अभी राल टपक पड़ी? ज़रा सब्र करो!"

"यार, बरसों से तो हवा पीकर जी रहा हूँ! उधर तो मजबूरी थी। मगर, कल से तो जान होंठों पर है, समझो।"

"कोई परवा नहीं। दो दिन में सौदा पट जायगा—नज़दीक ही लड़की देखी-सुनी है। खासी ताज़ी, गुल-फुल, गुलबदन।"—मंटू ने गोपाल बाबू की पीठ पर एक हल्की चपत लगाते हुए कहा।

"असाढ़ में लगन भी काफ़ी है।" मैंने ज़ोर दिया।

"तो, पाँचों उँगलियाँ घी में हैं।"—मीर साहब ने मुहर लगा दी।

❀ ❀ ❀

हम लोग जब चिराग़ जलते गोपाल बाबू के घर पहुँचे, तो उन्हें नशे में ग़र्क पाया। वे दुतल्ले की छत पर औंधे पड़े थे। कभी कुछ अण्डबण्ड बकते; कभी कुछ गुनगुन गाते। पता चला, सुबह में सब्ज़परी, दिन में आसमानी, शाम से लाल परी—आज तीनों भवानी की मेहरबानी थी! बस, अँगूरी की माधुरी कराबे से उड़कर ज्यों नाक में पड़ी, उनकी मुहतों की

पली हुई प्यास एकबारगी उपट पड़ी। चुसकियाँ लेते-लेते बोतल साफ़ हो गई। चिखने के खयाल से एकाध काश चखते-चखते दो-ढाई सेर कलिया चट कर गये। फिर यह दर्दनाक अंजाम तो ज़रूरी था।

उनका सर धोया गया। चेहरे पर गुलाब-जल के छींटे दिये गए। ज़रा होश में आए तो आप उठकर बर्राने लगे—"ताबूत पर हमारे तरारा शराब का!"

शाम का जलसा मुलतवी रहा। हमलोग बैरँग वापस आये।

तड़के गोपाल बाबू पान चबाते मौजूद। आँखों में खुमारी। चेहरे पर शर्मसारी। रात की माफ़ी माँगी। शाम के ज़शन का नवेद दिया।

फिर शाम को वही कैफ़ियत! मगर खैरियत थी, नशे में शिद्दत नहीं थी। सामने तली हुई कलेजियों की तश्तरी थी। हाथ में छलकती हुई प्याली।

"भाई, पीता नहीं हूँ, महज़ गला सींच रहा हूँ। ज़माने से सूखा पड़ा है।"

"शौक़ से सींचो। मगर कहीं पी-पाकर आज भी पानी न फेर दो।"

"आज तो वह मालिन का समां बाँधूँगा कि बस....."

"मालिन ! अभी तक तुम्हारे लहू में वह चक्कर काट रही है ?"

"तमाशा तो देखो ! क्या रंग लाता हूँ ! मैंने लखनऊ में कालिकाबिन्दा की कला सीखी है।"

महफ़िल जमकर जमी। शराब के रंग में तान की तरंग। मज़ा आ गया। मीर साहब ने तसबीह जेब में डाल दी; सितार की खूँटी कसी। इधर तबले पर थाप पड़ी; उधर सारंगी खनकी। गोपाल बाबू ने पैरों में घुँघरू बाँधा, कमर में घाँघरा दिया, सर पर शरबती ओढ़नी डाली, तपाक से घूँघट काढ़ा; एक हाथ कमर पर रखा; दूसरे में फूलों की चँगेली ली; फिर लहराते हुए चमककर सामने आ गये।

गाने-बजाने के शौक़ीन तो थे ही, नाचने और भाव बनाने में भी फ़र्द निकले। एक-एक अंग के स्फुरण में लीलायित लय की बिजलियाँ थीं। एक एक गति और भंगी में कला की बारीकियाँ थीं। बोटी-बोटी फड़कती। उनकी चितवन की मटकी कलेजे में चुटकी लेती। ठुमुक-ठुमुककर लचक-लचककर गाना और नाचना शुरू किया—

'चली मस्त झूमत रंगीली मलिनियाँ।'

मंटू ने गला मिलाकर छेड़ा—

'लगी तन से छन-छन निरखने किरनिया,
टिकुलिया जो चमकै तो दमकै दमनिया।
खेलन लागी अंखियाँ में बिजुरी कनखिया,
हँसन लागी ओठवा पै झुक-झुक झुलनिया।'

मोहन ने सुर उठाकर गाया—

'झूलन लागी झबिया बजन लागी झँझिया,
लहर मारे बेनिया फुलनिया सलोनिया।
कसन लागी छतिया पै अंगिया केसरिया,
भरन लागी अँचरा में उभरी जवनिया।'

मीर साहब कब बाज़ आते; तपाक से तान भरी—

'लचाती कमरिया लफ़ाती चुनरिया,
उड़ाती अँचरिया लुटाती अंजोरिया।
चुराती नज़रिया चलाती कटरिया,
चली लौ लगाती मोहनिया मलिनिया।'

गोपाल बाबू नाचते रहे, गाते रहे। जो गाते, उसे कर दिखाते—उँगलियों से, कनखियों से, होठों के पुलक से, कमर की लचक से, गर्दन की मरोड़ से—अंग-अंग के तोड़ से; झूम-झूमकर इठलाते। सारंगी लहराती रही। सितार की मीड़ गले की लोच को चूमती चली।

घुँघरू का शिञ्जन। तबले का ताक् धिना-धिन। छन्द की लहरी। नशे की रंगीनी। संगीत का रस रस-रसकर हृदय के तल तक उतर पड़ा।

६

गोपाल बाबू की शादी पट गई। चट मँगनी, पट ब्याह। उधर आकाश पर मस्त पयोधर उभर पड़े; इधर गोपाल बाबू की तमन्ना भी आसमान चूमने लगी। आशा फिर अंकुरित हुई। लालसा फिर मुकुलित हुई। इन्तज़ार पहाड़ हो गया। कामना की मरीचि-लालिमा मन-महल की दीवारों पर चमक उठी।

जब मन रँगता है, तब दुनिया रंगीन हो जाती है। यही रंग हर रंग पर रंग जमा देता है। गोपाल बाबू के घर आठों पहर राग-रंग चला। दिन रात बन गया; रात दिन बन गई।

गोपाल बाबू ने आसमान सर पर ले रखा। जल्दीबाज़ी की धूम मचा दी। पीते और खटते जाते। डाल की तैयारी चली। बून्दी की चुनरियाँ रँगी गईं। साड़ियों पर पट्टे चढ़े।

लहँगों पर लचके फूले। गहने पीटे गए, गूँथे गए। कटकी करधनी। जड़ाऊ बन्दी। रवाईदार कँगनी। चूहादन्ती पहुँची। शेरदहाँ कड़ा। गले की मटर-माला। जोशन और झबिया। ताग-पात ढोलना। मोती-पिरोई नथिया। वग़ैरह-वग़ैरह।

शहर से शहनाई आई। फुलवारी आई। सेहरा गाने दुलारी आई। मकान रँगा गया। दूल्हे के लिए लाल जामा आया। चीरा-पटका बना। माली मौर लाया। सब चुस्त-दुरुस्त।

कल शादी है। बरात जाने की तैयारी रही। दूर जाना नहीं था; पाँच मील का फ़ासला। दो-ढाई घंटे का सफ़र; नहर की पटरी से रास्ता।

आधी रात को परिछन का लग्न था।

गोपाल बाबू के मकान के दाईं ओर नज़दीक ही मोहन का कुशादा बैठका था। परिछन के बाद उसी दालान में नौशः के रात-भर ठहरने का इन्तज़ाम था। साथ-साथ दुलारी के गाने का प्रोग्राम भी। वहीं से तड़के ठंढे-ठंढे नाश्ते के बाद कूच की तैयारी थी।

हमारी पार्टी सरेशाम ही मोहन के बरामदे में जा डटी। नौशः का इन्तज़ार तो था ही, चकल्लस का बाज़ार भी गर्म हुआ। बोतल का पानी हलक़ के तले उतरा। छाती की आग में आग का पानी पड़ा। वासना फनफना उठी। राग-रंग का

समाँ बँधा। दुलारी ने घुँघरू बाँधा। सारंगी ने सुर बाँधा। तबले से ताथेई चली।

इधर असाढ़ की मस्ती आसमान पर छाई। उमड़ी तड़पी। आसमान से चू पड़ी। टिपटिप-टिपटिप। घुँघरू की रुनझुन। बारिश की रिमझिम।

बाहर का घंटा पड़ा। मैं दबे पाँव पठा। गोपाल बाबू को लाने चला। परिछन का लग्न गुज़र रहा था। रास्ते में उनका नौकर मिला। वह इसी ओर बदहवास दौड़ा आ रहा था।

"क्यों रामू, कहाँ लपके जा रहे हो? परिछन का वक्त गुज़र रहा है।"

"मालिक! ग़ज़ब हुआ। सरकार तो दुतल्ले की छत से....."

"ऐं!—मेरी ज़बान तालू में सट गई।"

"दुतल्ले की छत से आँगन में गिरे पड़े हैं।"

"यह कैसे?"

"कैसे कहें? नशे में चूर थे। ऐसा भी कोई टूटकर पीता है! छत पर काई थी ही। पैर रपटे। जाने क्या हुआ!"

"चलो तो!"

दौड़कर आँगन में आया। जो कुछ देखा; उसे देखकर आँखें फट गईं। हाय! आसमान फट पड़ा! यह बिना मेघ के बिजली कहाँ से गिरी!

वे मुँह के बल औंधे पड़े थे। लटकन की रोशनी ऊपर से

पैर तक बिखरी पड़ी थी। भेजा पिचककर भुरकुस हो गया था। लहू की लाल लकीरें दोनों पुटपुरों से टप-टप चू रही थीं। तन पर लगन की लाल लिबास लहालोट थी। लाल जामे का बन्द ज्यों-का-त्यों कसा था। गले में लाल पटका लिपटा पड़ा था। वे परिछन के लिये तैयार थे—और यहाँ परछ गई मौत!

सहसा मेरे स्मृति-पट पर गोपाल बाबू के अतीत की एक बात बिजली-सी कौंध गई। तो क्या?—

मैं कमर थामकर बैठ गया। आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगा। थाल में दही और दूर्वा लिये मुहल्ले की सुहागिनों की अवली आँगन में बुत बनी खड़ी थी। उनकी अबीरी चूनरियों पर बूँदों की झरी झमक रही थी। हाथ में मौर लिये नेगी नाऊ का छोकरा ओसारे की सीढ़ी पर पत्थर बन गया था। दरवाज़े के पास कन्धे पर पालकी उठाये कहार भींगते खड़े थे।

और, इधर मोहन के बरामदे से दुलारी के गले का लहरा सारंगी की रिमझिम पर थिरकता हुआ आ-आकर छाती की पञ्जरियों में छलाँगें भरने लगा—

'कौन गली गये श्याम,
बता दे सखी, कौन गली गये श्याम?'

बाप की रोटी

दोनों सौतेले भाई थे—श्यामलाल और रामलाल। मशहूर नाम 'शामू' और 'रामू'। शामू सरकारी कचहरी में नाज़िर था; रामू ज़मींदारी कचहरी में मुहर्रिर। नाज़िर के घर चका-चकी थी; मुहर्रिर के घर फ़ाक़ाकशी।

मकान एक ही था। कच्चा-पक्का। दुतल्ला! आँगन दो। ड्योढ़ी दो। पिछुत में बड़ा-सा खंड। एक छिछली-सी तलैया। सघन पेड़ों के झाड़-झोंप। जो दीवार दस वर्ष पहले आँगन को चीरती हुई खड़ी की गई थी, वह आज भी क़िस्मत की लकीर की तरह अटल है।

बाप को मरे जाने कितने साल हुए! नक़द माल तो बड़े भाई के हाथ लगा—चूरचार छोटे के हाथ।

रामू की जेब तो खानदानी ज़र से ख़ाली रह गई, मगर दिमाग़ में खानदानी घर की बू भरपूर था। इधर पेट भी भरना, उधर सर भी ऊँचा रखना बाएँ हाथ का खेल नहीं

की पैदावार के लिए! मगर पपीते की काश्त से बेटियों की काश्त ज़रा महँगी निकला! उधर तो तफ़रीह थी, इधर बच्चों का क़ाफ़ला जान का बवाल हो गया।

रामू सुबह से शाम तक ताँगे के टट्टू की तरह खटता, कचहरी के दफ़्तर से नजात मिली तो बीवी के दफ़्तर में हाज़िरी दी। उधर ज़िलेदार साहब की फ़र्माबरदारी इधर बीवी की फरमाइशों की तामीली—चावल, दाल, तेल, तरकारी—टके-टके की गिनती। फ़ुरसत रही, तो कमर सीधी की। एक-आध फंका चना-चबेना हुआ। साथ-साथ चुस्की का चसका चला। चिलम भरी और हुक्के का कश लिया। कोई टपक पड़ा, तो दो-चार हाथ चौपड़ रहा।

हाँ, जिस दिन जेब गरम रहती, उस दिन पैर ज़मीन नहीं छूते। गदीखाने से बोतल आती, चिक के घर से खस्सी की रान मुहल्ले के दो-चार मनचलों के साथ चकल्लस रहती, बीवी पर सोहाग बरसता और चुक्कड़ की मस्ती में कंठ फूटकर राग अलापता—

'मुद्दत पर शाम वस्ल हुई है मुझे नसीब।
दो चार सौ बरस तो इलाही सेहर न हो।'

मगर दो-चार सौ बरस तो दूर रहे, एक-आध सेकण्ड भी रात की मियाद नहीं बढ़ती और, सुबह, शायद सुबह होने के पेश्तर ही, सर पर सुफेद कफ़न बाँधे रामू की छाती पर

सवार हो जाती। उधर पौ फटा, इधर छाती फटी। फिर उसी ठंढे चूल्हे की मुसीबत। सत्तू या लिट्टी की नौबत! कचहरी की दौड़ और क़लम की रगड़।

भीतर औरतों में लाख छुरी चलती हो मगर भाई-भाई में ज़ाहिरा आँखों के पानी की कमी न थी। घर में बात-बात पर पानीपत छिड़ता रहे—यह न उनकी नीयत थी, न लत। जब भेंट हो जाती, पुरानी तमीज़ की पाबन्दी दोनों जानिब से बराबर चलती। छोटा बड़े का चरन छूता और बड़ा 'जीते रहो' कह मुसकराकर पूछता--

'कहो रामू! अच्छे हो?'

'दुआ है।'

'बच्चे चंगे हैं?'

'दुआ है।'

'अच्छा, फिर कभी।'

बड़े भाई को यह डर समाया रहता कि कहीं छोटा भाई कुछ माँग न बैठे, तो फिर इनकार के लिए कोई दलील ढूँढ़ना ज़रा मुश्किल होगा। छोटे को यह डर समाया रहता कि कहीं भाई साहब छोटी बहू की कटीली ज़बान से छिले हुए दिल के फफोले दिखाने लगे, तो फिर इलाज के लिए कोई मरहम ईजाद करना मुहाल होगा।

छोटी बहू का मिजाज़ गरम था। गला भी ऊँचा और

ज़बान भी तीखी थी। वे जब मैदान लेतीं, रामू के सीने पर सवार हो मुहल्ले को सुना-सुनाकर कोसतीं—आसमान सर पर उठा लेतीं। बड़ी बहू एक-एक जली-कटी को चुन-चुनकर दिल में गिरह बाँध रख देतीं। वे तानों की मीठी चुटकियाँ लेने में फ़र्द थीं और मुहल्ले के आगे विष झाड़ने के बदले पति के कानों को भरते रहना ज़रूरी समझतीं।

ज़माना हुआ, एक बार बड़ी बहू के भी आसरा था। महीनों झाड़-फूँक का सिलसिला चलता रहा। मन्दिरों में मन्नतों की झड़ी लगी रही। मगर अफ़सोस, वह बीज जब फूटने पर आया तो एकाएक कुम्हला गया! घर में हाहाकार मच गया। सारी बन्दिशों, सारी उम्मीदों पर पानी फिर गया।

जिस दिन यह घटना हुई, छोटी बहू के घर से तीज की गुझिया आई थी और शायद बड़ी बहू ने भूल से उसे चख लिया। उस दिलजली की जादूभरी फूँक ने इस अँधेरे घर के आशा-दीप को बुझा डाला, यही बात बड़ी बहू के दिल में गड़ गई। उसकी मुँहलगी बाँदी रो-रो कर यही सुर अलापने लगी।

छोटी बहू के कान में भनक पड़ी, तो भूत हो गई। एक छन तो चुप रही, फिर आँगन में छोटे बच्चे को कलैया लेते देख

ताली बजा-बजाकर गाने लगी—

'नाचो तू मोरा अँगनवाँ मोहन—
जो तू मोहन नाचो अँगनवाँ
खाये के पैहो मखनवाँ मोहन।

उधर बड़ी बहू लहू के घूँट पी रही थी। यह गाने की आवाज़ जले पर नमकपाशी हुई। बस, इशारा पाते ही बाँदी ने पुकार कर कहा—

'माखन तो ज़रा टेढ़ी खीर है, छोटी बहू! चना-चबेना पर नचाती तो भला पते की बात भी होती!'

'तुम तो माखन पर नचा न चुकी! ग़रीब को तर माल कहाँ मिले! मेरा मोहन तो चना-चबेना पर ही थिरकेगा।'

छोटी बहू गाती चली गई—'खाये के पैहो चबेनवाँ मोहन!'

सारा मकान गूँज उठा। बड़ी बहू दाँत पीसकर खीस पीने लगी।

यही घटना घर में खुल्लमखुल्ला कलह की बुनियाद हुई। जब मनमुटाव मन से उचककर ज़बान पर आया, तब तक तो दोनों भाई माथा खुजलाकर चुप रहे; मगर जब वहाँ से छलाँग मारकर हाथापाई पर नौबत आई, तब उनकी पिलही चमकी। किसी तरह खानदानी रुतबे के खयाल से उसे खींचकर दायरे में ले आये। झोंटा-झोंटी की मंज़िल नहीं पहुँची, यही ग़नीमत थी।

यों ही बे-बात की बात पर दोनों ओर से कमान तन जाती। आखिर न कोई ख़रीदारी की तहपेंच थी—न लेन-देन की ले-दे थी। फिर भी दोनों ओर दिल-ही-दिल में कुछ ऐसी जलन थी कि बग़ैर किसी कोने से बादल उठे ही बिजली तड़प उठती।

जब पारसाल मायके से लौटकर बड़ी बहू ससुराल आई और छोटी बहू के घर आठवीं सन्तान की छठी में उस आँगन में जाना पड़ा, तो टूटी चारपाई पर चिथड़ों से सिमटी हुई मल्लिका के मुकुल-सी एक नन्हीं बच्ची का गोलमटोल गुलफुल मुख देखकर जाने क्यों उनकी ज़बान अनायास फट पड़ी—

'अब तो तू बस कर बहू! कंगालों की आबादी—बढ़ी न बढ़ी।'

'माँ तो कहलाई, जीजी!'—छोटी बहू नहले पर दहला देती हुई बोली—'कंगाल ही की माँ सही, बाँझ का नाम तो न पड़ा!'

'आज न तेरी छाती जुड़ा रही है! कल जब भूखे बच्चों की चीख से वह फटने लगेगी, तब तुझे छठी का दूध याद····'

'बस करो, जीजी, तुम्हारी छाती में कभी दूध उतरता, तो छठी के दूध की परवा नहीं करती।'

बूढ़ी पुरोहिताइन बच्ची के सिरहाने बैठी टूटा मोरछल लिये मक्खी उड़ा रही थी। दोनों ओर से तानों की बौछार जो चली, तो दिल हिल गया। कहीं बात बढ़ी, तो उनके सिर भी बला

आ धमकेगी। आखिर दोनों ही यजमान ठहरीं। उन्होंने बड़ी बहू की ओर रुख कर कहा—

'जाने दो बहू, छोटी बहू की क्या बिसात? यह तो ईश्वर की देन है। जहाँ वह देता है, छप्पर फाड़कर देता है।'

"हाँ-हाँ, पहले घर पर छप्पर भी तो हो!'—बड़ी बहू ने हँसकर कटाक्ष किया।

'न सही छप्पर। जिसने मुँह चीरा है, वह अहार भी देगा।'

'देना रहता तो, मुँह चीरने के पहले ही देता!'

'खैर, तुम्हें तो दोनों हाथों से भर दिया है न?'—छोटी बहू आँखें नचाकर बोली।

'क्या दिया? वह अजब छलिया है। तुम्हें धन का कंगाल किया, मुझे जन का। दिया या न दिया, दोनों बराबर।'

बड़ी बहू की जबान से दिल का दर्द एकाएक फूट पड़ा।

छोटी बहू मुसकुराकर गोद की बच्ची को सगर्व छाती से लगाती हुई बोली—

'वाह, तो तुम धन भी लोगी और जन भी—दोनों?'

'भाई, जहाँ धन का सुख है, वहाँ मन का सुख बड़े भाग से मिलता है'—पुरोहिताइन ने बड़े मीठे स्वर से कहा। 'धन से न तो जीवन भरता, न मन। हाँ, किसी का तन चाहे लाख भरे।'

[२]

जब छोटी बहू की पहली सन्तान 'कंचन' इस धरातल पर आई थी, दरवाज़े पर नौबत झड़ी थी। मगर जब लगातार बच्चे बे-बुलाये मेहमान की तरह सीने पर सवार होने लगे, तो कुदरत की इस ज़रखेज़ी पर नौबत झड़ना तो दूर रहे, दस बिरादरी के आगे पत्तल पड़ने की भी नौबत न आई। यहाँ तक कि इन सालों-साल हमल के हमलों से वालदैन के दिल भी दहल उठे और धीरे-धीरे घर की देवी के चौरे पर सन्तान की सलामती के लिए झुकती हुई पेशानी बस एक खोखली रस्म की पाबन्दी-सी रह गई! चार बेटे और पाँच बेटियाँ किसी लखपती की कमर तोड़ने लिए काफ़ी हैं, फिर अगर कुदरत की इस दरियादिली की बौछार से बिचारे पन्द्रह रुपये माहवर-वाले मुहर्रिर के पैर बिल्कुल उखड़ गए, तो इसमें कुछ अचरज की गुंजाइश कहाँ?

जब तक रामू को यह उम्मीद थी कि बड़े भाई की पलकें हो-न-हो एक दिन ज़रूर पसीजेंगी—उसके किसी एक बच्चे को अपना बच्चा क़रार देकर वे इस गृहस्थी की डूबती नाव को कन्धे लगाकर सम्हाल ले चलेंगे, तब तक तो वह बाजरे की सूखी रोटी के नवाले को कुल्हड़ के ठर्रे में भिंगो-भिंगोकर हलक़ के नीचे आसानी से उतारता रहा। मगर, जब बरसों गुज़र गए, भैया ने दम नहीं कसा और भाभी ने फबतियाँ कसने के

अलावा अपने भाई के लौंडे 'लालू' को मैनेजर मुकर्रर कर उसके हाथों में तोशखाने की कुञ्जी अता की, तब तो बिचारा नाव को मँझधार छोड़कर किनारे बैठ कंकड़ी चुनने लगा। पेट की ज्वाला उपटकर आँखों के आगे चिनगारियाँ बन गई।

ज़माने ने करवट न बदली, न बदली। लड़के सयाने हो चले। लड़कियाँ सयानी हो चलीं। रामू की आय ललाट की रेखा की नाईं अटल बनी रही—न बढ़ी और न घटी। तनख्वाह भी वक्त, पर मिलती रहती तो एक सूरत होती। ज़मीन्दारी कारबार—दस की जूतियाँ सीधी करते-करते कमर टेढ़ी हो चली थी। जब थका-माँदा शाम को घर लौटता, बीवी जेब की तलाशी लेती। न लेती तो इतने बच्चों के मुँह में दाना कहाँ से पहुँचाती! एक-एक गहना गिरों पड़ा था। मुहल्ले में उधार लेते-लेते नाकों दम था।

रामू को घर में दाना मिले या न मिले, मगर रोज़मर्रे शाम के मामूल के बग़ैर तो जान होठों पर आ जाती। यह चुस्की का चसका गले की फाँस था। बस, एक चुक्कड़! ज़रा-सी आँखों में गुलाबी रंगत। बच्चे बिचारे दाना बिना कराह-कर रह जाते—कभी चना-चबेना फाँक लेते, कभी हवा ही फाँककर सो रहते। भात है, तो दाल नहीं; दाल है तो तरकारी नहीं। कभी तो दोनों नदारद! फिर तो माँड़-भात और नमक की नौबत।

छोटी बहू तो महीनों पर नहाती—वह भी किसी तीज-परब पर ही। तन पर मारकीन की मोठी धोती क्या थी—पैवन्दों की परिपाटी थी। अंगों पर मैल की पपड़ियाँ सूखकर चिट्ट हो गई थीं। बच्चों के तन के चिथड़े जब बू कर उठते, तब कहीं आँगन के कूँए पर कचार दिये जाते। इधर से छोटी बहू के लड़के नंग-धड़ग मछली बझाने के बाँस की बंसी लिये निकलते, उधर से बड़ी बहू के भाई का लाड़ला 'लालू' कोट-पैंट में लैस, बाल सँवारे, पान चबाते, बेंत की लपलपाती छड़ी घुमाते, बाईसिकिल पर दनदनाता हुआ स्कूल की ओर रवाना होता।

रामू ने बच्चों को आदमी बनाने की कोशिश तो ज़रूर की, मगर भूखे पेट में आदमियत तो पनपनी नहीं—शरारत उपट पड़ी। बड़े लड़के मोहन को कुदरत की देन—दिमाग़ की तेज़ी तो ज़रूर थी, मगर वह खुलकर राह पर आने कहाँ पाई—पेट की भूखी आग लपककर उसे भी खा गई। आखिर वह प्रतिभा एक छोर पर दब गई, तो दूसरे छोर पर उभर पड़ी। मोहन ने हाथ की सफ़ाई में नाम कर लिया। वह जबरदस्त पाकिट-मार निकला। माँ बिचारी तो अन्दर महल में छाती फ़ाड़ कर खट रही थी; उसकी छाती में दम कहाँ था जो बेटे पर रोब रखती! बाप को तो सुबह से शाम तक कलम घिसने से फ़ुरसत न थी, बेटे को राह पर लाता तो कौन! फ़ुरसत भी होती तो तालीम की

राह धराने को पैसे कहाँ थे !

जो बाप बेटे को दुनिया में लाकर पाल न सका, वह तो बाप होने की लाज से मरा पड़ता है, बेटे पर रोब गाँठने की बात तो दर-किनार रहे !

एक रोज़ खेल ही खेल में मोहन ने लालू की कमीज से सोने की सिकरी निकाल ली। लालू ने तलाशी लेनी चाही तो उसने कमाल की फुर्ती से छोटे भाई सोहन को पास कर दिया। लालू तो भौंचक-सा मुँह ताकता रह गया। इधर सोहन ने लपककर उसकी साइकिल उठाई, और सिकरी को एक लफंगे बीड़ीवाले के घर खपा आया।

बड़ी बहू ने आसमान सर पर उठाया। कुहराम मच गया। दोनों लड़कों की पीठ पर छड़ियाँ तोड़ी गईं ! लालू की आँख में पानी था। उससे जब यह मार-पीट देखी न गई, तब उसने खुद कोई दलील पेश कर उनकी जान बचा दी।

मोहन अब स्टेशन की मटरगश्ती करता और एक चाय-वाले की दूकान पर बैठ, ताश के तिनपतिया जुए में, हाथ की सफ़ाई दिखता। कभी कुछ कमा लाता, तो बाप की शाम की शराब में हाथ बँटा देता। मुंशीजी इसी में खुश थे कि बेटे ने किसी बनिए के घर नाज के बोरे नहीं उठाए; किसी मिस्त्री की मातहत में चूने-गारे नहीं ढोए; किसी गृहस्थ की खेती-बारी की मदद में बैल नहीं हाँके; बल्कि अक्ल की खूबी से दो-चार पैसे

लाकर उनके सर के भार को तो हल्का किया। अगर पसीने की मजूरी करता, तो खानदान का रुतबा रसातल में चला जाता, दुनिया उन पर उँगली उठाती और वे दुनिया के शामने आँखें न उठा पाते। आवारगी तो आखिर चढ़ती जवानी का शृङ्गार ही ठहरी। आप ही राह पर आ जायगा।

छोटा बेटा सोहन मछली के शिकार में निपुण निकला। वह अँगोछे में दो मुट्ठी चना-चबेना बाँध शहर के बाहर चक्कर काटता, तलैयों और गड्ढों में डोरी डालता, बरसात में आधी-आधी रात तक चिलवन लगता फिरता और कीचड़ में धँसकर बँगुरी और बतासी को ज़िन्दा पकड़ लेता। कौड़ाही की बिजली की झपट की तरह उसकी उँगलियों में कमाल की करामात थी। जब शाम को छोटी-छोटी मछलियों से झोली भरकर घर लौटता, तो शिकार के तोहफे पर नज़र पड़ते ही भूखे घर में प्रसन्नता की एक लहर खेल उठती और पिता की टेढ़ी भौं आप ही सीधी हो जाती। एक तो दाल और तरकारी से नजात मिली, दूसरे शाम को गला सींचते वक्त भूने चने के चिखने से ताज़ी मछली काकाश कहीं ज्यादा लज़ीज़ लगावट लाता। पिता जामे से बाहर आँगन में निकल आते और सोहन के कंधे पर हाथ देकर पूछते—

'क्यों सोहन, तुम दिन में खाने नहीं आए?'

'चना फाँक लिया था। फुरसत कहाँ थी।'

'क्या मिला है, रोहू या.....'

'रोहू का बच्चा तो ज़रूर है।'

'सच! तब ज़रा कंचन को कहो कि सरसों देकर तल दे।'

'तेल तो नहीं है—बाबूजी!'—कंचन कुएँ पर बरतन माँजती हुई बोली।

'जाने दो—आग ही में पका दो। भुरता हो क्या कम है? हरा मिर्च तो होगा ही।'

ग़रीबों के जीवन में यह मुफ्त की मछली दावत की मसर्रत पैदा करती है। छोटे-छोटे बच्चे मछली छू-छूकर आँगन में कलैया लेते हैं, माँ भात की हाँड़ी उतारकर बेटे को कलैया लेती है। कोई मसाला पीसने दौड़ता है, कोई चटपट मछलियों के चोयँटे छुड़ाने बैठ जाता है भात के कौर खिल उठते हैं। कल चूल्हा जले या ठंढा रहे, माँड़ छाँककर पीना पड़े या सत्तू घोलकर, आज तो भर पेट मछली-भात की सौगात रही।

[३]

कंचन बाप की बेटी थी। मस्त-मौला। धुनी भी थी—धुरन्धर! बचपन ही में अजीब नटखट। निडर। लाख मना करने पर भी आँगन से ठुमककर चली जाती थी। अगर उसकी खातिर अम्मा और चची में जंग छिड़ जाती, तो वह उस घरेलू दंगल का मज़ा लूटती। इस रसास्वादन का सूत्रपात गेहूँ के दस दाने के निमित्त हुआ था। कंचन ने उस आँगन में जाकर धूप

में पसारे हुए गेहूँ से चन्द दाने अपनी कुल्हिया में भर लिये थे। बड़ी बहू का जब पता चला तो फट पड़ी—

'देखती हो बहू, तेरी बिटिया के मारे तो नाकों दम है। आँगन में गेहूँ पसारा है। दबे पाँव आई, चट एक फाँड़ बटोर ले गई।'

'भला जीजी, कंचन ऐसी है!'—इधर से छोटी बहू बोली।

'यह सुनो, लालू ने आँखों देखा है।'

'झूठ, ऐसी उलटी गंगा न बहाओ। आखिर दो मुट्ठी गेहूँ चुराकर···'

'लालू, लालू! बोलता क्यों नहीं?'—बड़ी बहू ने भतीजे को पुकारा।

लालू कोठे पर छुपकर इस बतरस का रस ले रहा था। उसने एक मटकी दी, और ऊपर ही से पुकार उठा—'हाँ, हाँ, फूआ! अभी कंचन आँचल में गेहूँ बाँध चलती हुई, तो मेरी निगाह पड़ी।'

'क्यों पानी में आग लगाते हो बाबू? इसीलिए फूआ के घर रोटियाँ तोड़ रहे हो? तुम न आते तो आज मेरी···।'

तब तक बड़े सरकार आँख मींजते निकले। कहीं प्याले में तूफान न बरपा हो। बोले—'जाने दो। दो दाने ले ही गई, तो उसकी लत बिगड़ी···'

बड़ी बहू एकाएक बरस पड़ी—'जाने दो! छठ का गेहूँ

था। कुलच्छनी जाने किन हाथों से छू गई।'

छोटा बहू मुँह बनाकर बोली—'हूँ, हरवंश सुन चुकीं अब छठ करने चली हैं! गोद भरी! मैंने कौन छठ किया था?'

'घर भर दिया कंजड़ों से—गिरहकट्टों से! अच्छी कोख भरी। तुम्हें ही मुबारक रहे। मैं बाँझ ही सही! नाक तो न कटी।'

❀ ❀ ❀

हाँ, तो वही कंचन अब सयानी हो गई। ज्यों-ज्यों बड़ी होती गई, कंचन-सी दमकती गई।

अभाव की प्रचण्ड आँच से भी जिसे आँच नहीं लगती, वह है बेटी की उम्र की बाढ़।

सूने तन पर सोने का उबटन खिल उठा। सूनी माँग पर जवानी की माँग बोल उठी। उसे क्या पड़ी थी कि वह सिंधोरे के इन्तज़ार में दम धरती!

ग़रीबी की चपकलिश को चीरकर जवानी फूट पड़ी।

जहाँ असन-बसन का सुख नहीं, वहाँ जीवन का जशन मुमकिन नहीं; पर यौवन का कुन्दन, मन का स्फुरण, कामना का स्पन्दन तो चीथड़े या रेशम की लपेट में बराबर एक-सा रहता है।

कंचन सोलह को पारकर सतरह में आई तो अंगों पर मैल के पर्दों के भीतर से रंग निखर पड़ा। रूखे-सूखे चेहरे पर

मक्खन की चिकनाई फिर गई। बड़ी-बड़ी आँखें कानों तक खिंच आईं। होठों की मुस्कान में रस की मिठास भर गई। वह बचपन की चपलता जवानी की वासन्ती-चंचलता में समा गई।

इधर ग़रीबी की कलक़, बेकसी की कसक। उधर यौवन की ललक, लालसा की पुलक। कभी तो वह फुर्ती कि पैर ज़मीन नहीं छूते और कभी वह मुर्दनी कि पैरों से ज़मीन सरकती नज़र आती। मन की मौज उसे आसमान पर उड़ा ले जाती और फिर वास्तविकता की तंगी ज़मीन पर दे मारती। दिल उठता और बैठ जाता। रस-भरे स्वप्न उमड़कर बरसाती बादलों की तरह आते और फिर देखते-देखतेबादलों की तरह फट जाते। बिजली-सी एक हूक की लकीर कलेजे को चीर जाती।

मुहल्ले की मिश्रानी से वह अक्सर राजा-रानी की कहानी सुनती और फिर घण्टों आँचल में मुँह छिपाये मन के पट पर राजा-रानी की तस्वीर आँकती। उसके मन की तरंगों के द्वार पर न जाने किस माया-लोक की मरकतरश्मि थिरक जाती। वह चौंक उठती, मुट्ठी मे दिल थामती, उस पुलक-कंपित उर पर पत्थर रखती, उन बुदबुदों की उफान पर आँसू बरसाती और फिर जब झिझककर उन कनक-किरणों को हाथ बढ़ाकर बटोरती, तो पाती कुछ नहीं—बस, चारों ओर अँधेरा, सुनसान!

मिजाज़ यह था कि कभी माता के आगे भी हाथ न पसारती और लिहाज़ यह था कि पिता के आगे कभी मुँह न उघारती। वह बचपन का चुलबुलापन मन के निभृत कोने में अतृप्त आकांक्षा की लहर बनकर तूफ़ान बाँधता—कभी लोचन के पल्लवों के भीतर झाँक जाता।

कंचन दिन भर मज़दूरनी की तरह घर के धंधों में खटती, मगर तभी जब उसे मुंजूर होता। जब खुश रहती तब दस का काम अकेला निबटा देती। झाड़ू भी देती, बरतन भी माँजती, चावल भी छाँट-छूँटकर भात चढ़ा देती, मसाला कूट-पीसकर भाजी भी छौंक देती और कमर में आँचल बाँध घर-भर को परस-परस खिला भी देती। जब खिन्नी रहती, अनमनी-सी पड़ी रहती; बत्ती की टेम भी न उसकाती।

वह ज़रा मनमानी-सी ढीठ थी! हफ़्ते में दो बार ज़रूर नहाती। घंटों पानी से पोर-पोर रगड़ डालती, धोती पर एक आँख बराबर रखती, पेवन्दों को सीते वक्त सूत में सूत मिला देती और बग़ैर बाल पर तेल दिये या चोटी गूँथे कभी घर से बाहर नहीं जाती। अगर धोती बिल्कुल फटी या गंदी रही तो मुहल्ले की किसी सहेली के सामने भी जाते ज़मीन में गड़ जाती।

उसकी छोटी बहनें इस अमारत की बू कि—इस शाहाना मिज़ाज की—खिल्लियाँ उड़ातीं, मगर कंचन अपनी टेक से तिल

भर थी न टलती। शायद उसके साथ मिज़ाज पहले था, लिहाज बाद।

ग़रीब को दिल हो तो हो, मिज़ाज होना तो दुनिया की निगाह में सज़ावार होना है।

बेटी की शादी का सवाल रामू की जान का जंजाल था। बहू सिर हो गई थी। घर पर दम-भर भी चैन न लेने देती। शाम को घर लौटकर न कमर सीधी कर पाता—न एक-आध घूँट मामूल चख पाता। वह बेटी के रूप-गुण की टोकरी सर पर लिये इधर-उधर दही-दही करता फिरता, मगर किसी दलील की दाल नहीं गलती।

आखिर उसने एक दिन दिल थामा और बड़े भाई का दरवाज़ा खटखटाया। अब तक वह भूखों मरता रहा, मगर कभी दो मुट्ठी चावल के लिए भी भैया के दर पर हाथ नहीं पसारा था; मगर यह तो सारे खानदान की इज्जत का सवाल है। बग़ैर उनकी मर्ज़ी और हमदर्दी के तो बेड़ा पार नहीं होता।

बड़े भाई के घर उस दिन हरवंश की पूर्णाहुति थी। वे अभी ब्राह्मण-भोजन से फुर्सत पाकर दालान में गाव-तकिया के सहारे लेटे हुए हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे। रामू को देखकर ज़रा चौंके, मगर फ़ौरन सँभलकर हस्ब-दस्तूर खैरियत दारियाफ़्त की। रामू दबी ज़बान से बोला—'भैया, कंचन तो सयानी हो

गई। कहीं शादी नहीं पटती। मैं....'

'हाँ जी, बात तो ठीक है। कितने साल की हुई ?'

'यही अठारहवाँ शुरू है।'

'अच्छा, मैं भी ताक में रहूँगा। ज़माना ज़रा नाज़ुक है। खैर....'

'मेरी हालत आपसे कुछ परदा नहीं है। मैं तो....'

'ज़रा दम लो। फिर मिलना। ओ लालू!—लालू! फुआ से मेरी चादर तो माँग लाना। हवा में ज़रा खुनकी है।'

हफ़्ते के बाद जब रामू फिर आ टपका, तो बड़े भाई ने बड़े तपाक से उसे पास ही चौकी पर बिठाया और खैर-आफ़ियत दरियाफ़्त के बाद ज़रा गला साफ़ कर बात छेड़ी—'हाँ, तो रामू, एक सूरत तो है। उम्र तो कुछ ज्यादा ज़रूर है, मगर हमारी कंचन तो पाँव-पर-पाँव रखकर घी के दिये जलायगी। हाँ, और वैसी कोई उम्र भी नहीं; खासे हट्टे-कट्टे हैं।'

'आखिर....'

'पचास से कम ही होगी। बाल तो खिचड़ी ज़रूर हैं; मगर दमखम में जवानों के भी कान तराशते हैं। शादी का कुल खर्चा तो मिलेगा ही, तुम्हारे बच्चे जो जगह पकड़ लेंगे, यही क्या कम है? बस, उनकी रोज़ी का सारा मसला ही हल हो जायगा। तुम्हारा दर्द-सर दफ़न हुआ समझो।'

रामू बिचारा चुप था। उसका रोआँ-रोआँ जानता था कि

ग़रीब की बेटी जवान हुई नहीं कि ज़माने भर के सड़े-बुझे रँडुए निगलने को मुँह फैलाये···। जब मुँह के दाँत जवाब देते हैं—पचाने की क़ूवत हवा हो जाती है, तब ज़बान का ज़ायका चूज़ों के ताज़े मुलायम गोश्त की तलाश करता है।

जिस सूने घर में सोना सपना-सा है, वहाँ सोने के रंग की सयानी बेटी बुढ़ापे के कूचे में सोने के दर बिकती है।

'आप किसका ज़िक्र कर रहे हैं ?'—रामू ने माथा खुजलाते हुए पूछा।

'वाह, सिरिश्तेदार साहब का ; और किसका ?'

'सिरिश्तेदार साहब !

'हाँ, हाँ, सरकारी कचहरी के सिरिश्तेदार।'

रामू की आँखों पर सिरिश्तेदार साहब की झुकी हुई कमर लचक गई।···तो क्या कंचन की छड़ी उनकी बुढ़ापे की लकड़ी होगी ? ज़रा अकचकाकर बोला—'मगर उनके जो जवान बेटे हैं ?'

'हुआ करें ; बीवी तो नहीं है। सुनो रामू, जो आदमी ज़माने की हवा देखकर चलता है, वही आजकल निभता है। तुम योंही खाक छानते रहोगे, कोई हज़ार से कम पर बात न पूछेगा, कंचन ही क्यों न हो। और यहाँ पाँचों उँगली घी में होगी।'

'हाँ, तो ज़रा घर में भी राय कर लूँ।'

'शौक़ से, ज़रूर। बहू से कह देना—कंचन रानी होकर रहेगी। मैं कुछ हवा नहीं बाँधता···हाँ।'

ज्योंही रामू दालान से बाहर क़दम रखा, बड़ी बहू पिन-पिनाती हुई आ धमकीं और बरस पड़ीं—'क्यों, रामू यहाँ आया था ?'

"हाँ, आया तो था !"

"किस लिए ?"

"कंचन की शादी की चर्चा थी।"

'तुम्हें मतलब ?"

"वाह ! सिरिश्तेदार साहब जो दूलहा होने जा रहे हैं।"

"कौन सिरिश्तेदार साहब ?"

"हमारे सिरिश्तेदार साहब और कौन !"

"वह खूसट !····बिचारी कंचन····!"

"तुम्हें दर्द है, तो भाई को लिखो, बेटे से ब्याह कर दें।"

"दुत् ! भिखमंगे के घर !···छप्पर पर फूस भी है ?"

"तो फिर बेचारे रामू को और चारा ही क्या है ?" कहीं शादी पट गई, तो उसके दिन पलट गये।"

"तो क्या दामाद का घर आबाद करेगा—बेटी का रोज़गार ? उसे तो पाँच बेटियाँ हैं, मालामाल हो जायगा !"

"होने दो मालामाल !"

"मगर कंचन तो दफ़न होती है।"

"होती है दफ़न, गिन्नी के ढेर में; कुछ मिट्टी के ढेर में नहीं। दुनिया में कहीं मन का मोल है ? जो मोल है, रूप का है। आखिर कंगाल की पूँजी तो बस, बेटी ही है····वह भी गोरी-चिट्टी !"

"खैर, तुम तो बखेड़े से अलग रहो। छोटी बहू सुन पायेगी, तो सर के बाल चुन लेगी !"

रात को खाने के वक्त रामू ने शादी की चर्चा छेड़ी। सिरिश्तेदार साहब की खूबियों में एक बुटकी नमक-मिर्च लगा दिया। बहू कान देकर सब तो सुनती रही ; मगर जब रामू की ज़बान से बड़े भाई की सिफारिश की बू टपकी, चट बहू ने वहीं पर बात तराश दी, और भात की बटोली लिये खनखनाती हुई चौके में घुस गई।

भाई की बन्दिश से तो रामू बाल-बाल बच गया, मगर तवे से छूटकर चूल्हे में जा पड़ा। सिरिश्तेदार साहब की जगह ज़िलेदार साहब उम्मीदवार हुए। इन्हीं की मातहत में उसकी नौकरी थी। यहाँ तो पर बँधे थे, उड़ान भी लेता तो किस बूते पर ?

ज़िलेदार साहब का शुमार शहर के शरीफ़ शोहदों में था। खूबसूरत-सी सूरत पर शौक़-सिंगार की शिद्दत। चेहरा क्या था, चारुता का मक़बरा था। बीवी मौजूद थी। दो ब्याही लड़कियों के बच्चे भी थे। मगर ज़र से भरा घर बग़ैर एक कुल-दीपक

के अँधेरा पड़ा था। पेशकार साहब ने रामू को अलग ले जाकर पोट-पाट किया—"भाई, आँख मूँदकर शादी कर दो। तुम्हारी तरक्क़ी धरी रखी है। अभी बात-की-बात में पचीस की जगह मिली जाती है। वह भी ऐसी जगह, जहाँ मिट्टी छू दो तो कंचन हो जाय!"

"मगर कंचन जो मिट्टी हुई जाती है!"

"मिट्टी! कंचन तुम्हारी कंचन होकर रहेगी। सौत की नाज़बरदारी का तो डर नहीं। ज़िलेदार साहब तो उसे अपनी बस्ती में ले नहीं जाते। यहीं शहर के मकान में मालकिन बनकर रहेगी। जी चाहे, उसकी माँ को भी साथ रख देना। घी के मालपुए····"

"सो तो ठीक है, मगर····"

"मगर, 'मगर' क्या?"

"यही कि ज़िलेदार साहब का सिन····"

"अजब उल्लू हो! चालीस-बयालिस का सिन भी कोई सिन है? तुम्हारी क़सम, उनके ख़ानदान में किसी ने अस्सी के इधर मौत का मुँह नहीं देखा। अभी तो उनके वालिद तक मौजूद हैं। खाली डील, कमर तक नहीं झुकी है।"

"मूछों के बाल जो पक चले। मँड़वे में····"

"क्यों बाल की खाल खींच रहे हो? उसे काला कर देना

कौन-सी बड़ी बात है ? और फिर बाल पर क्या रखा है, असल तो माल है।"

"भाई, जो कुछ हो, मेरी बेटी तो मेरी रोटी नहीं हो सकती !"

"मगर याद रखो, ज़िलेदार साहब के चंगुल से तुम्हारी रोटी भी नहीं छूट सकती। कहीं नौकरी गई, तो बाज़ार में बटिया खीरे के मोल बिकेगी। जानते नहीं, ग़रीब को दिमाग़ होना उसकी ख़ालल-दिमाग़ी में दाख़िल है।"

"भाई, तौबा करो दिमाग़ को; यह दिमाग़ नहीं दिल है। बस, दिल क़बूल नहीं करता।"

"म्याँ, ग़रीब के लिए पेट पहले है, दिल पीछे ! तुम किस फेर में पड़े हो ! यहाँ पेट में आग लगी है, और तुम दिल का राग अलाप रहे हो। उस शैतान के मुँह पर पत्थर रख दो।"

रामू को दिल पर पत्थर रखना पड़ा। दिल और दिमाग़ दोनों पर पेट बाला निकला। उसने कोई जवाब न दिया—न 'हाँ', न 'नहीं'। चुप दफ़्तर से लौट गया।

पेशकार साहब ने समझा, राह पर आ गया। लेकिन ज़िलेदार साहब को ज़माने की रविश की परख थी। उन्होंने दूसरे ही दिन रामू की ऐसे महकमे में तबदीली कर दी, जहाँ रोज़ एक-आध रुपए की आमदनी होने लगी।

शादी की चर्चा छिड़ते ही तो उसकी यह तरक्की हो गई।

जब वह सचमुच ससुर का उहदा पा जायगा, तब ज़मींदारी कचहरी का कौन-सा उहदा उसके लिए दुशवार होगा ?

कचहरी में उसका जैसे रोब जम गया। इलाके के पटवारी और तहसीलदार, जो पहले सलाम लेने को भी रवादार न थे, अब दो-तरफ़ी सलाम दागने लगे।

शाम की शराब के लिए चुक्कड़ की जगह बोतल आई। जिस चौके में मसूर की दाल ज़ाफ़रानी क़लिया का रूतबा रखती थी, वहाँ अब भूनी कलेजियों की बू उड़ने लगी।

दो दिन में रामू का सिर फिर गया। पैसे की माया दिल की गरदन को चाँप कर दिमाग़ पर चढ़ गई।

शायद दुनिया में कोई ऐसा ईमान नहीं, जो सोने की आँच में पिघल न पड़े। ज़र का नूर नूरेचश्म पर भी बाला है।

ज़िलेदार के ज़र का जादू वात्सल्य के सर पर चढ़कर बोल उठा।

अमीर जब उड़ान लेगा, मीर ही होकर रहेगा। पिद्दी बिचारी टाँय-फिस कर फिसड्डी ही रह जायगी।

[४]

दशहरे की छुट्टी थी। ज़िलेदार साहब के घर से कुछ तोहफ़े आये—दाल-भरी पूरियाँ, मालपुए, कचौरियाँ, मिठाइयाँ, दही-बड़े, आलू के दम, मछली के कोफ़्ते; साथ—एक ज़री-किनारे की प्याज़ी साड़ी भी थी।

रामू पशोपेश में पड़ा। स्वीकार करे तो मुश्किल, इनकार करे तो मुश्किल। कभी कलेजा उछल कर मुँह को आता; कभी दिल बैठ जाता। कोई बस न चला तो अन्दर बीवी से मशवरे लेने के लिए दौड़ा। वहाँ माँ के पास कंचन बैठी उसकी फटी साड़ी में पट्टियाँ जोड़ रही थी। रामू को ज़रा रुकना पड़ा।

इधर तर माल की खुशबू जो उड़ी तो बच्चे आँगन से उचक कर दालान में आ गए और कतार बाँध ललचाई आँखों से थाल के इर्द-गिर्द जुट पड़े।

ज़िलेदार साहब का नौकर था हुशियार! उसने चट दो-दो जलेबियाँ बच्चों को थमा दीं, और तमाम चीज़ें अन्दर उठा ले जाने को उनके सुपुर्द कर दिया।

इधर जलेबियाँ तो भूख से चोखे चहू के दाब में चुरमुर होने लगीं, उधर खुंचा उठाने में छीना-झपटी चली। बस, नौकर नौ-दो ग्यारह हो गया।

चीज़े रह गईं। रात को चूल्हा जलाने की हाजत न हुई। सामान-इफ़रात था। बच्चों ने पेट-भर खाया। रामू ने भी मछली के कोफ़्ते निगले!

मगर कंचन ने उन नेमतों का एक दाना भी न चखा। सर में सख्त दर्द था—भूख न थी। आँचल से मुँह ढक कर चटाई पर सो रही।

माँ ने पुचकारा, कनपटी टीप दी, हज़ार इसरार किया;

वह टस-से-मस न हुई। उसने ज़बान से तो कुछ कहा नहीं, मगर उसकी भ्रू-भङ्गिमा की टेढ़ी नोक ने उसके दिल का सारा कच्चा चिट्ठा खोलकर रख दिया।

भूखी माँ भी माँ ही है। वह बेटी के मन की भूख को समझ न सकी, यह मुमकिन नहीं; मगर भूखे को पेट की भूख न होकर दिल की भूख होगी—यह बहू की निगाह में बे-सिर-पैर की बात थी।

दुनिया तो समझती है कि जिसके पेट में भूख है, उसकी छाती में भूख नहीं होती; जिसका तन नंगा है, उसका मन भी नंगा होगा; जिसका सर घुटनों से लगता है, उसमें दिमाग़ की बू कभी मुमकिन नहीं। मगर यही समझ तो उसकी समझ की जड़ में कीट है। यही समझ तो तले की दुनिया ऊपर लाती है, और फिर हमारे सामने न यह आसमान ही रहता है—न पैरों के नीचे यह ज़मीन ही रहती है।

❀ ❀ ❀

दशहरे का दिन। घर-घर नई सज-धज। रामू बिचारे गरदन पर भी त्योहार सवार हो गया।

मुँहबाई बेबसी। पैसे की ठस। कुल की मर्यादा। बच्चों का क़ाफ़ला। त्योहार का दिन या दोन की मौत का दिन!

बड़ा घरवाला जब ग़रीब होता है, तब उसके जीवन की दसो दिशाएँ सूनी हो जाती हैं। भिखमंगे को भीख माँगने में

कोई लाज नहीं, मजदूर को कुदाल उठाने में कोई लिहाज नहीं, मगर शरीफ़ ग़रीब न हाथ पसार सकता है, न हाथ चला पाता है। उसे तो भूख ही नहीं खाती, शर्म भी खाती है। वह सिर्फ़ भूख ही से नहीं मरता, लाज से भी मरता है। उसके शिकम में ही भट्ठी नहीं जलती, उसकी छाती में भी भट्ठी जलती है। उसका शरीर ही तिल-तिल नहीं घुलता, जान भी अन्दर-ही अन्दर घुलती है। उसके साथ पेट ही का क़हर नहीं, लहू की भी लहर है, दिमाग़ का भी ज़हर है। ग़रीबी की चिता पर शराफ़त का घी तन और मन दोनों को फूँक डालता है।

कुली बेकार से कुलीन बेकार कहीं विकराल है। यह कंकाल आज जगत का जंजाल है। इसकी नस-नस में बेताबियाँ भरी हैं—पेट की, लहू की, दिल की और सर की। जब तक पड़ा है, पड़ा है; पर यह वह अंगार है, जो कभी राख नहीं होता। यह जब उठेगा, लू बनकर तड़पेगा—जिधर उड़ेगा, आग लगाकर धर देगा।

बस, कुलीन को कुली होने की देर है, और कुली को कुलीन होने की।

रामू ने उधार-पधार लेकर किसी तरह अपनी झेंप मिटाई! बच्चों के सामने आँखें सीधी कीं। किसी को कुर्त्ता, किसी को टोपी, किसी को धोती दे-दूकर उनकी दिलजोई की। उसकी प्यास तो मिटी नहीं, उसकी अपनी झेंप जो मिटी हो! कंचन

को बचपन ही से चमकती चीज़ें पसन्द थीं। उसके लिए वही ज़री किनारे की साड़ी रखी गई। आखिर वह थी भी उसकी चीज़ !

जब तीसरे पहर माँ ने उसे वही साड़ी बदलकर तुलसी-तले दीप दिखाने की हिदायत की, तब कंचन मुँह फेरकर अलग खिसक गई। माँ ने छोटी बच्ची झुन्नी को इशारा किया कि साड़ी उठाकर दीदी को दे डाल।

झुन्नी साड़ी लिये दीदी के पास चली। वह दो क़दम आगे गई होगी कि कंचन झमकती हुई आई—चील-झपट्टे से साड़ी छीनकर उसकी धज्जियाँ उड़ा दीं।

झुन्नी को तो जैसे काठ मार गया। वह आखें फाड़ बेदर्द दीदी की करतूत एक-टक देखने लगी।

छोटी बहू भी आहट पाकर आँगन में निकल आई और तड़पकर कंचन पर टूट पड़ी—'क्योंरी निगोड़ी, तूने साड़ी क्यों नोच डाली ?'

कंचन सिट्ट !

"बोल, बोलती क्यों नहीं ?"

कंचन बुत !—उसने ज़बान को तो मुँह में रख लिया, मगर तमतमाये हुए चेहरे की एक-एक शिरा नंगी तलवार-सी तनकर उठ खड़ी थी।

"तुझी से पूछती हूँ, बोल !"

माँ ने उसकी चोटी थामकर झोंके का धक्का दिया। उस

धक्के की चोट से ज़बान की ताली खुल गई।

"योंही"—कंचन इस बार तनकर बोली।

"योंही! वाह रे 'योंही'! कहाँ दाने-दाने की मुहताज, कहाँ यह मिज़ाज!"

"मुझे पसन्द नहीं।"

'सो क्यों? बबूल की डारी और बुलबुल से यारी!"

"माँ, भूखे को भी भूख होती है!"

"होती है, पेट की होती है—पैसे की होती है।"

"तो मुझे न पेट की भूख है, न पैसे की।"

"दीवानी हो गई है क्या? यहाँ एक-एक टुकड़े के लाले पड़े हैं और तेरा दिमाग़ आसमान में उड़ रहा है!

"·····तो तुझे चाहिये ही क्या—भूखा जवान?"

कंचन ने आँखें नीची कर लीं।

"कुछ नहीं!"

"बाप के सर पर बोझ बनी रहेगी?"

"बोझ हूँ, तो मुझे घूरे पर फेंक दो।"

"तेरी बोटी-बोटी काटकर दम लूँगी; दम धर!"

बहू झमकती हुई ओसारे में चली गई। मुहल्ले की औरतें आ पड़ीं। बात वहीं दब गई।

रामू ने सुना, तो तमककर कहा—"दो चाँटे रसीद करो, सारी हैंकड़ी भूल जाएगी। किधर गई कलमुँही?"

जब ग़रीब की बेटी बाप की रोटी हो जाती है, तब वह उसे बोटी-बोटी कच्चा चबा डालने में भी नहीं हिचकता। फिर, चबा तो वह डालता है, मगर पचा नहीं पाता; वह कोढ़ की तरह फूट निकलती है।

कानों-कान बात फूट गई। भनक उड़कर ज़िलेदार साहब के कानों तक जा पड़ी। उनकी भूख और भी तेज़ हो गई—माल चोखा है, गरमागरम। ग़रीब की बेटी में रूप ही नहीं, मिज़ाज भी है। सोने के रंग में दिमाग़ की बू है! खूब, शबाब के शीशे में शराब का झाग! अब और क्या चाहिये!

ज़िलेदार साहब ने समझा कि बग़ैर स्क्रू कसे यह उफ़ान ठंढी नहीं होने की। वह काफ़ी ढील दे चुके, अब पैंतरे पर रास ज़रा कसकर खींचना ज़रूरी है! रामू हाँ-हूँ कर टाल-मटोल किये जा रहा है! उसके सीने पर सवार होकर बरच्छा करा लेना ज़रूरी है।

बस, ज़िलेदार साहब ने आँखें बदल दीं। रामू को फिर अपनी पुरानी जगह पर वापस कर दिया। तनख्वाह पर भी बिजली गिरी।

पहली तारीख गुजरे दस दिन हो गये, और वह एकाउंटेंट के दफ्तर पर सुबह-शाम चक्कर काटता रहा। ज़मींदारी कचहरी ठहरी, कोई पाबन्दी तो थी नहीं।

अब क्या हो? रामू को तीनों लोक नज़र आने लगे। यहाँ

पर बेटी को कटीली भौं काटने दौड़ती। उससे मोर्चा लेने की हिम्मत न थी।

पेशकार साहब ने अलग ले जाकर खरी-खोटी सुनाई- "सुनो रामू, इस टालमटोल से तो यह बला टलती नहीं। तुम्हारी लट जब दबी है, तो फिर लाख छटपट करो, कुछ....."

"भाई, मैं तो दसो नख जोड़े तैयार हूँ, मगर..... मगर.."

"फिर अगर-मगर क्या ?"

"घर से....अभी...

"क्यों राय पक्की न हुई ? क्या समझा है, तुम्हारी बेटी को गरदन पर छुरी चलने जा रही ? आज नौकरी गई, तो तमाम बच्चों की गरदन पर छुरी चल जायगी या नहीं; बोलो ?"

"बस, ज़रा बीवी का दिल भर लूँ। और तो सब ठीक है ही।"

"भाई जान, बीवी का दिल भरने से ज़िलेदार साहब का दिल भरना तुम्हारे हक़ में ज्यादा ज़रूरी है। कोई रस्म-वस्म कर उनको इतमिनान दे दो, फिर इतमिनान से बीवी का दिल भरा करो ! शादी तो माघ के क़बल होती नहीं। कहीं वे निगाह पलट देंगे, तो चेहरे पर खाक उड़ने लगेगी।"

रामू जब लौटकर घर आया, बीवी को बुखार में चूर पाया। कोई बात न हो सकी। कमर थामकर बैठ गया। गाँठ

में पैसे भी न थे कि सूखे गले को सींचता। आँसू पीने के सिवा आज पीने को था ही क्या ?

बुखार ने ज़ोर पकड़ा; बहू ने खाट पकड़ी। इधर घर में खाक उड़ी। दवा-दारू की गुंजाइश नहीं। चूल्हा ठंढा पड़ गया। सयाने बच्चे तो ग़म खाकर रह जाते, छोटे बच्चे रामू का सर खाने लगे।

रामू दौड़कर ज़िलेदार साहब के घर गया; साहूकार साहब के घर गया, ताल्लुकेदार साहब के घर गया। हाथ जोड़ा, गिड़गिड़ाकर उधार भी माँगा। किसी ने पुट्ठे पर हाथ रखने न दिया। शायद किसी को पता तक न चला कि उस ग़रीब के दिल में दर्द क्या है,—यह जानने की न फ़ुर्सत थी, न तबीयत।

शायद विभूति की क्यारी को अनुभूति नहीं पनपाती। क्या पत्थर की पटियों के साये में आदमी भी पत्थर बन जाता है ?

जिसे प्यास लगने नहीं पाती कि जुड़ा गई, वह ग़रीब के जीवन की प्यास को कहाँ तक समझेगा ? जिसे भूख की शिद्दत का कभी अनुभव नहीं, वह दूसरे के तन की तपन को कब पहचान सकता है ? घी-मलाई खानेवालों की आँख ही पर चर्बी नहीं छाती—दिल पर भी छा जाती है !

आखिर रामू की बेबसी उसे बड़े भाई के दरवाज़े की ओर

ींच ले गई। वह चौखट के भीतर चला तो गया, मगर वहाँ ा कैफ़ियत देखकर ज़बान तालू से लिपट गई।

बड़े भाई व्यस्त थे। माघ में होनेवाली लालू की शादी की यारी में बुरी तरह उलझे थे। बीवी की फ़रमाइश थी कि गनी चूहादन्ती बने। बाहर के दो सर्राफ़ नये-नये पैटर्न लिये ोजूद थे। आड़ में भाभी भी मौजूद थीं। मोल-तोल का बाज़ार र्म था।

इस वायुमण्डल में रामू के दर्द-दिल की गुंजाइश कहाँ ? वह आँखें फाड़ खड़ा रहा।

बड़े भाई की निगाह जो पड़ी, तो वे ज़रा खिझे-से पूछ ठे—"अरे रामू! तुम यहाँ कैसे? क्यों, खैरियत तो है?"

"भैया, मोहन की माँ घर में सख्त बीमार है, और री···"

"तो तुम उसे अस्पताल क्यों नहीं पहुँचा देते?"

"अस्पताल?"

"और क्या!"

रामू लौट पड़ा। रोगिणी के सिरहाने आकर बैठा। हाथ उसका हाथ लेकर रो पड़ा—"तुम्हारी यह हालत और मेरे स टके नहीं!"

"अच्छा, भगवान् मालिक है!"—बहू धीमी आवाज़ बोली।

"भगवान् तो लक्ष्मी के पति हैं। दुखिया का पति कौन है, पता नहीं!"

"तुम्हारी तनख्वाह मिल गई?"

"कहाँ मिली! उस मूज़ी ज़िलेदार की मर्ज़ी नहीं!"

"तो फिर?"

"उधर वे तने हैं, इधर कंचन तनी है! इन तमंचों की तनातनी में हम लुटे। अब गले में भीख की झोली लटकाना बाक़ी है!"

कंचन ने किवाड़ की ओट से सब कुछ सुना, सब कुछ समझा। उसका कलेजा टूक-टूक हो गया। वह कटे पेड़ की तरह पछाड़ खाकर गिर पड़ी। घंटों चुप सोचती पड़ी रही।

कभी फफक-फफकर रो पड़ती—"भगवान्! क्या इस जीवन की विभूतियों पर ग़रीब का कोई हक़ नहीं! अगर है, तो फिर किसने उससे छीन लिया? भाग्य ने—समाज ने—किसने? यह विभेद कहाँ से आया? क्या ग़रीब का ईश्वर अलग है, अमीर का अलग? अगर नहीं तो फिर यह अंधेर क्यों?···ठीक है, वे कंचन के थाल में तर माल चखते हैं! यहाँ क्या रखा है? दिल का धुआँ है और आँसुओं के खारे जल का अर्घ्य। तो सच, वह दीनों का अवलम्ब न रहा? सारी लन्तरानियाँ सिर्फ धाँधली हैं? तो फिर आख़िर हमारा अवलम्बन कौन है? नहीं, नहीं, है ही नहीं। मगर काश

होता—अगर—

'ग़रीबों का भी कोई आसरा होता, तो क्या होता!

ख़ुदावन्दा हमारा भी ख़ुदा होता, तो क्या होता!'

"क्या होता? ख़ुदा की ख़ुदाई क़यामत का तमाशा होता। समाज का पारचा-पारचा तहोबाला होता। ठहरो, भूखे की भूख में जो भूखी शिखा है, वह अमारत की आँखों में उँगलियाँ डालकर उसे उसकी भूल दिखा देगी।"

कंचन आँख मलते उठी। कठोर। गंभीर। धोती बदली, बाल सँवारे। माँ के कमरे में चली गई। ज्वर में बेसुध माँ के चेहरे पर आँख गई। जलती पेशानी पर हाथ रखा, एक छन चुप खड़ी रही। फिर कमरे से बाहर आई। आँगन में आँख-मिचौनी खेलते बच्चों को देखा। एक-टक देखती रही। आगे बढ़ी। दीवार से सटे सिंघाड़े के पेड़ के पास ठिठकी। जाने क्यों, उसकी डालियों को थाम झकझोर दिया। कलियाँ ज़मीन पर झर पड़ीं। वह ज़रा-सी मुस्कुराई। फिर चट पिछूत का किवाड़ खोल जाने कहाँ निकल गई!

[५]

रामू को घर लौटते रात हो गई। कचहरी के बाद वह एक-आध जगह रुपये की तलाश में चक्कर काटता रहा। कहीं दाल न गली!

जब वह हकासा-पियासा घर लौटा, रोगिणी के सिरहाने

दवा की शीशियाँ देखकर चौंक पड़ा। कमरे से निकलकर आँगन में आया। देखा, ओसारे पर बैठकर बच्चे खिचड़ी और बैगन का भुर्ता खा रहे हैं। कंचन चौके में बैठी कड़ाही में तरकारी छौंक रही है। उसका सुगौर चेहरा लौ की लपट से गुलेनार हो रहा है। सूने घर मे यह चहल-पहल देखकर उसकी आँखें टँग गईं। पल-भर खड़ा-खड़ा देखता रहा। फिर पुकारा—"कंचन! ज़रा इधर तो सुनो!"

"आती हूँ बाबूजी!"—चौके से आवाज़ आई।

कंचन आँचल सँभालती बाहर आई। उसकी आँखें ज़मीन में गड़ी थीं।

"ये दवा की शिशियाँ कैसी हैं?"

"वैदजी आये थे।"

"कब?"

"थोड़ी देर हुई।"

"और यह दवा?"

"बाज़ार से आई।"

"पैसे कहाँ थे?"

"पैसे कुछ थे।"

"सच! और भी हैं?"

कंचन ने आँचल के खूँटे से एक अठन्नी निकालकर रख दी। रामू ने समझा कि कंचन की माँ बड़ी मुन्तज़िम है।

मुमकिन है, उसके पास कुछ बचे-खुचे होंगे। वही रक़म कंचन के हाथ गई होगी।

उसने अठन्नी उठाई और बाहर आकर गद्दीखाने से एक अधबोतली मँगा ली। इधर कई दिन से एक बूँद भी हलक़ के नीचे उतरी न थी। आज अनायास पैसे हाथ में आते ही प्यास उपटकर होंठों पर आ गई।

बहू का बुखार जोश पर था। कंचन अकेली घर चला रही थी। रामू को हज़ार दौड़-धूप पर आधी तनख्वाह तो मिली, मगर गृहस्थी के जलते तवे पर वह पानी की दो बूंद की तरह छन्न-से उड़ गई। रामू ने यह रक़म कंचन के हाथ देकर पूछा भी नहीं कि और कितनी की ज़रूरत होगी। पूछने की शायद न हिम्मत थी, न तबीयत। जैसे चलता है, चले। नहीं चले, न चले। इस खपत में कौन जान दे? और जान देने से फायदा?

वह प्रतिदिन शाम को दफ्तर से लौटकर पीड़िता पत्नी के सिहराने की बदलती हुई शिशियों को देखता, कंचन को बुलाकर ज्वर के उतार-चढ़ाव की कैफ़ियत तलब करता, थोड़ी देर पैताने बैठकर उसके तलवे सहला देता; फिर बाहर दालान में आकर मस्तिष्क की ज्वाला को बोतल के पानी के छींटों से ठंढा करता।

कंचन की माता जिस जीवट से आज तक ग़रीबी से लड़ती आई थी, कुछ उसी जीवट से उसकी बेटी मौत से

लड़ो। शायद इसी जीवट के तमाशे को देखकर मौत भी दंग थी!

कभी वह डूबती, कभी उतराती। एक-आध दिन तो नब्ज़ भी छूट गई थी। कंचन आठों पहर माँ की सेवा में खटती। हाँ, कभी-कभी घंटे-दो-घंटे के लिए पिछुत की खिड़की से जाने किसके फ़िराक़ में एकाएक हवा हो जाती। जब जाती, ज़रा बन-सँवरकर जाती; जब आती तब आँचल से आँख चुराये आती।

आखिर एक दिन मौत ने कमान रख दी। बहू मरी नहीं, मरने के लिए बच गई। दुखिया को तो मरने की भी क़िस्मत नहीं होती। मौत भी उसे नजात नहीं देती।

❀ ❀ ❀

रविवार। जाड़े की दुपहरिया। रेशमी हवा। रेशमी धूप। छोटी बहू आँगन में बैठी गुलाबी धूप का मज़ा ले रही है। कभी गोद की छोटी बच्ची को थपकियाँ देती, कभी निगाह उठाकर ओसारे पर कलैया लेते हुए बालकों को देखती। रामू चटाई के एक छोर पर बैठा कचहरी का रजिस्टर भर रहा है।

"तो बड़ी बहू बाप के घर चली; भतीजे की शादी है!"—छोटी बहू ने पति की ओर रुख कर कहा।

"हाँ, डबल तैयारी है।"

"कब शादी है?"

"यही एक आध महीने में।"

"क्या तुम्हें फिर कोई नई जगह मिल गई ?"

"नहीं तो ! तुम बीमार पड़ गईं, मैं जिलेदार साहब को पक्की ज़बान न दे सका।"

"तो फिर मेरी बीमारी में रुपए कहाँ से लाये ? कर्ज़-वर्ज़ ले लिया क्या ?"

"मैं रुपये कब लाया ?"

"तुम न लाये, तो फिर आसमान से बरस गये ?" बहू ने ज़रा तुर्श होकर पूछा।

"कंचन जानती होगी। मैंने तो समझा था, तुम्हारे पास कुछ बचा-खुचा होगा !"

"मेरे पास तो एक टका भी न था।"

"तो कंचन से पूछो। उसी ने रो-गाकर घर सँभाला। नहीं तो, जाने....."

"और तुम ?"

"मुझे मरने की भी फ़ुरसत थी ? कचहरी का गधा, घर रहा तो, दफ्तर रहा तो !"

"हूँ-ऊँ, तो तुम बेटी की कमाई खाते चले आये। तुम्हें शर्म....."

छोटी बहू ने रुख बदला और ज़रा ऊँची टीप से पुकारा—"कंचन ! अरे ओ कंचन !!"

कोई आवाज़ न आई।

'वह निगोड़ी गई कहाँ? परसों भी इसी वक्त कहीं गुम हो गई थी!"

"भला, वह जाएगी कहाँ? उस आँगन में गई होगी!"

"मरने? काकी तो फूटी आँखों भी नहीं देख पाती। उनकी गली तो सबसे पहले उठती है!"

"देखूँ तो!"

रामू उठा और भीगी बिल्ली की तरह बाहर निकल गया।

सहसा पिछुत के किवाड़ पर एक हल्का धक्का लगा। कंचन दबे पाँव घर में क़दम रखा। वह चुपके ओसारे की ओर बढ़ी और चौके में घुस गई।

छोटी बहू ने कनखी से एक उड़ती झलक देख ली। तन पर खमली किनारे की धुली धोती, पीठ पर लाल फुँदने में बँधी लहराती काली चोटी।

बहू की आँखों में लहू उतर आया। झट उबल पड़ी—"कंचन! इधर तो सुन!"

कंचन उल्टे सिटपिटाती हुई सामने आई कि बहू ने चट हाथ बढ़ाकर उसका आँचल थाम लिया और जोरों से एक झाँटा रसीद किया—"क्यों री कलमुँही! तू यह साड़ी कहाँ से उड़ा लाई!"

कंचन चुप!

बहू ने साड़ी का छोर थाम ज्यों झटके से खींचा कि वह चर्र हो गई। खूँट से चन्द रिजकारियाँ झनाक-से ज़मीन पर जा पड़ीं। बहू ने फिर पूछा—"पैसे कैसे हैं? पर जम गये? लड़ रही है?"

कोई जवाब नहीं।

"ज़बान गिर गई? बोलती क्यों नहीं?"

कंचन सिट्ट।

"कहाँ गई थी, बोल!"

'बाज़ार!" कंचन ने दबी ज़बान से कहा।

"रूप की हाट में? जवानी बेचती फिरती है?"

कंचन जैसे अपने को समेट कर खड़ी हो गई। उसके नथने फड़क उठे। आँखें चढ़ गईं।

"तुम जो अपनी बेटी बेचने चली हो!"—कंचन ने ज़रा रूखी हँसी हँसकर कहा।

"चुप! तू ही मेरी कोख में आने को थी! मर क्यों नहीं गई?"

"मरने की बाक़ी है क्या? मैं मरती नहीं, तो तुम जीती कहाँ से!"

यह जलती हुई बात माता की ममता के मर्म में बर्छी की नोक-सी चुभ गई।

बहू ऐंठ गई। झट चूल्हे से एक जलती हुई चैली निकालकर

बेटी की पीठ पर चटाख-से दे मारी। सर पर सनक-सी सवार हो गई। पटापट पीटती चली गई। दस-बीस, जाने कितने। कंचन ने चूँ तक न किया।

बहू ने मारते-मारने बेदम कर दिया। फिर चोटी थाम आँगन की सूनी कोठरी में घसीट ले गई। भीतर ठेलकर बाहर से कुंडी चढ़ा दी।

कंचन की आँखों में न आँसू थे, न ज़बान पर उफ़ थी।

पटापट की आवाज़ उस आँगन तक दौड़ पड़ी। बड़ी बहू ने किवाड़ के पास आकर कान खड़े किये।

लालू ने दीवार लाँघकर उस ओर कूदना चाहा। फूआ ने हाथ थाम लिया। और कहीं किसी ने दम न कसा।

शाम हो गई। सन्नाटे का आलम। बच्चे सहमे हुए फटी रजाई के तह में सिमट गये। रामू ने बाहर दालान में जाकर पीना जो शुरू किया, तो पीता ही चला गया। चुक्कड़ पर चुक्कड़। बोतल उड़ गई। फिर वह उठा, मगर उठ न सका। वहीं कोने में लम्बा हो गया।

छोटी बहू पर उतरा हुआ ज्वर फिर सवार हो गया। वह पछाड़ खाकर चारपाई पर जो पड़ी, तो रात-भर कोई सुध नहीं।

सुबह हुई। आँख जो खुली, तो बहू लड़खड़ाती आँगन में आई। कोठरी की कुण्डी खुली पड़ी थी। कंचन का पता नहीं!

जाने कहाँ चली गई ! हाय ! हाय !!

उस आँगन की कैफ़ियत भी ऐसी ही दर्दनाक थी। बड़ी बहू के तोशखाने की कुंडी खुली पड़ी थी। उनकी तमाम जेवरों और मोहरों की पेटियाँ ग़ायब ! लालू का कहीं पता नहीं !! जाने कहाँ चला गया ! हाय !!

इधर छोटी बहू सर पीटती रही !

उधर बड़ी बहू छाती पीटती रही !

माँ

७

रतन ने जब ससुराल में क़दम रखा तो उस झंखाड़ खपरैल के तले रूप के गुल-बूटे उग आये। कहार के घर में बहार की लहर फूट पड़ी। धधाई हुई सास ने बहू की रू-नुमाई में हाथ के बहरबूटे खोलकर धर दिये। ननद ने चादर उतारते वक्त, आँखों से आरती उतार ली। विलास के पैर तो ज़मीन नहीं छूते। वह कभी बहू को देखता, कभी दिल के पहलू को टटोलता।

सुख के दिन हवा के घोड़े पर सवार आये। साल जाते-जाते विलास के घर पर आसमान फट पड़ा। रतन के सास और ससुर तीरथ जो गये, तो वहीं चल बसे। विलास कमर थामकर बैठ गया। वह था मस्तमौला। एकाएक दुनिया जो सामने पड़ी तो वह थर्रा गया। वास्तविकता की धार पर चलते कच्ची उम्र की रफ़्तार लहू-लुहान हो गई।

जिस क़दम की रौनक़ी ने खपरैल को ज़ीनत बख़शी थी, मिट्टी के धिरौंदे में चमन की रूह फूँक दी थी, वह एकाएक

बाँधी। यह जीना मरने से भी कहीं दुश्वार था, मगर इससे क्या ? अब तो वह मर-मरकर भी जीयेगी।

घर में वह अकेली पड़ गई। उस ओर आँगन में एक बूढ़ी चचिया सास थी, जो कभी पुट्ठे पर हाथ नहीं रखने देती।

खेती बिलट गई। मालिक की पुश्तैनी नौकरी भी छूट गई। फिर भी गहने गिरों रख-रखकर उसने अपनी आन को बरक़रार रखा।

बच्चे का मुँह देखकर उसने ज़िन्दगी पर पाल पलट दिया। सूने घर में भरी गोद लिये वह हरी-भरी रहने लगी। जीवन की तमाम तमन्ना माता की ममता में समा गई। सुहाग की सूखी बेल के स्मृति-सौरभ को लेकर वह उठ पड़ी।

जब कभी मन में जवानी की लहर सर उठाती, उसी दम बच्चे की नन्हीं-नन्हीं उँगलियाँ माता के प्राणों के सुकोमल तन्तुओं को छू देतीं और वह लहर लजाकर लय हो जाती।

लेकिन दुनिया उसे मस्त झूमने दे, तब तो !

तो क्या बहू भरी गोद के क़दमों पर भरी जवानी भी उँड़ेल देगी ? दिल पर तुलसीदल रख लेना क्या खेल है ? बेटे का दाह है, तो शरीर का दाह भी तो है—लहू का उछाह भी तो है ! कहीं छाती के दूध से जवानी का प्याला भर सका है ? बड़ी बेटेवाली बनी है ! ऊँची छाती न होती तो ऊँची नाक की धाक चलती ?

फूस की झोंपड़ी के तले दिल और दिमाग़ का हंगामा किसी को चैन से सोने नहीं देता। ग़रीब के घर यह अमारत!

गाँव के कठमुल्लों को छोकरी की यह ढिठाई बेहद खली। वह न किसी का नाज़ उठाती है, न किसी पर नज़र उठाती है। न कहीं आँचल पसारती है; न कहीं दिल उभारती है। बस, अपने बच्चे को सर पर लिये उड़ चली है।

उस आँगन को चचिया सास ने समझाया—"बहू तो क्या तू इसी सिन में जोगिन बनेगी? भतार को खाकर अब भतार के कुल में चन्दन लगाने चली है? चन्दन तो लगा न सकेगी; कालिख लगाकर धर देगी।"

"भला मैयाजी, लल्ला को किस पर छोड़ जाऊँ? मैं आँखों की ओट हुई नहीं कि यह तड़पकर....."

"तो इसे साथ लेती जा।"

"कठबाप के घर? वहाँ कोई फूटी आँखों भी इसे देख पाएगा? बाप का घर छोड़ा तो डूबा।"

"क्यों, जब सयाना होगा तो बाप के घर की सुध लेगा ही।"

"तब तक यह घर टिकेगा? गोतियों की आँख लगी तो?"

"तो यहीं कहीं पास ही बैठ जा। मोहन को तो तू जानती है न?"

रतन ने देखा, मोहन तूफ़ान की तरह जवान तो है जरूर;

पर तमाकू भी पीता है, दारू भी पीता है। उसे चिलम भी भरनी होगी और चुक्कड़ भी। भात तो खाने को मिलेगा, पर पियक्कड़ के घर लात भी खानी पड़ेगी। और कहीं लल्ला को लत पड़ी तो बला सर पर आई।

आखिर मोहन ने अर्जी पेश की।

"लल्ला की माँ तू 'हाँ' कर देती तो मेरा सूना घर भर जाता।"

"दुत्, मेरे साथ लल्ला जो है।"—रतन ने झेंपते हुए कहा।

"तो हर्ज ही क्या है? बेटे की साध भी पूरी होगी।"

"हाँ, घलुआ का बेटा होता है बड़ा मीठा! तुझे पेट पर खेत का एक मजूर तो मिल गया!"

"राम कहो; हम सुग्गा पालते हैं, उसके लिए दर्द होता है, यह तो अपना बेटा ही है।"

"बाप का बेख छोड़कर यह जो कौड़ी का तीन होता है।"

"तो यहीं किसी को सौंप जाओ।"

"मेरे लिए कलेजा निकालकर सौंप देना आसान है—यह नहीं।"

"तुम न मानोगी तो मैं यहीं धूनी रमा कर रहूँगा।"

"तुम्हारी खुशी।"

मोहन ने दर नहीं छोड़ा। दोनों वक्त, हाज़िरी देनी शुरू की। उसने समझा, कोठ का घान कीच में डालना होगा। बच्चे को कभी खाने के लिए, कभी खेलने के लिए कुछ-न-कुछ जुगा लाता।

वह सिर हो गया। लगा मँड़राने। कभी एकाध नज़र लाता, कभी एकाध नज़र मिलाता। कभी दिल थामता, कभी दिल टटोलता। हाट में भेंट होती तो दौड़कर दौरा अपने माथे पर उठा लेता, कुएँ पर भेंट होती तो भरी गागर की डोर थाम लेता। महीनों डट गया। बरसात में कजली छेड़ता, वसन्त में होली।

रतन इस स्नेह की सिंचाई का रस तो लेती, पर टस-से-मस न होती। हाँ, वह धीरे-धीरे दुविधा में जा पड़ी। कभी खिंचकर आती, कभी खिंच जाती। कभी बेटे का मुँह देखती, कभी मोहन का मुँह जोहती। कभी तोतली बोली पर पिघल उठती, कभी रस की कजली पर गल पड़ती। उधर मोहन की मोहिनी, इधर विवेक की चौकसी। एक ओर माता की ममता दूसरी ओर जवानी का तक़ाज़ा।

मोहन ढीठ होता गया। एक दिन बच्चे को कंधे पर चढ़ाकर मेला दिखाने ले चला। रतन जाने देना नहीं चाहती थी, मगर मोहन अपनापन की धुन में अड़ गया। उसने लल्ला को

जलेबी का एक टूक देकर मना लिया। रतन साथ जाने से शरमाकर रह गई।

मोहन तो चल दिया। इधर रतन सैकड़ों आशंकाओं से कातर आँगन से घर में और घर से आँगन में फिरकी-सी घूमने लगी। बे-बात की बात पर बूढ़ी से उलझ पड़ी।

"वह पियक्कड़ बकलोल कहीं भीड़ में धक्का खाकर लुढ़क पड़ा, तो ?....कहीं किसी डाइन की नज़र लग गई तो फूल-सा बच्चा..... कौन जाने, मेरी घड़ी टेढ़ी है !"

वह काँप उठी। बूढ़ी पर दिल का बुखार उतारती; फिर तड़पकर रह जाती।

दिन ढल आया। मोहन वापस नहीं लौटा। वह आधी दूर बाट जोहती उड़ती चली गई। उसके काले-काले लम्बे बाल मुह पर छिटक आये। आँचल सरककर कमर पर उतर आया। वह बेकल थी कि लज्जा सर न उठा पाती; वह आशंका थी कि विवेक की कील उखड़ पड़ी।

हठात् सामने मोहन पर नज़र पड़ी। सड़क के किनारे तड़ीखाने के दरवाज़े पर डटा वह बीड़ी फूँक रहा था। सामने लबनी थी—आधी खाली।

'मोहन ! लल्ला...?'

मोहन आँखें फाड़ रतन को देखने लगा। आसमानी के सुरूर में उसे रतन आसमान की परी नज़र आई। उसका

खुला आँचल, उसकी खुली लटें, उसकी पेशानी पर पसीने की बूँदें, उसके गालों पर लहू के दौरान की लाल लकीरें—एक अपरूप रूप की लहर बनकर मोहन की अचरज-भरी चितवन में खुब गई। उसने आज तक उसे इस रूप में नहीं देखा था। उसने आज तक उसे मस्ती के सुरूर में नहीं देखा था। वह हक्काबक्का घूरने लगा।

रतन भुन उठी। आँखें तरेर कर बोली—"कहाँ है लल्ला ?"

"वह क्या है !"

उसने उँगली उठाकर ताड़ के पत्तों की आड़ में एक अँधेरे कोने की ओर इशारा किया।

रतन ने देखा, लल्ला एक खाली लबनी के मुँह में हाथ दिये तलछट को घँघोल रहा है। उसके हाथ और मुँह ताड़ी और मिट्टी के क़माम से लदफद हैं। मक्खियाँ-सी जाने क्या उसके चेहरे पर भिनभिना रही हैं। वह कुछ सिसकियाँ लेता हुआ एक अजब डरी हुई धीमी आवाज़ में 'माँ ! माँ !' पुकार रहा है।

उसने दौड़कर बच्चे को गोद में उठा लिया। वह एक छन रुकी नहीं। उल्टे पाँव चल दी।

"ठहरो, मैं भी आता हूँ।"—मोहन ने पुकारकर कहा।

"तू क्या आयेगा मरने ?"—कहती हुई रतन उसी तेज रफ्तार से लौट गई !

मोहन के स्वप्न को दफ़न कर रतन निश्चिन्त हो गई। अब वह इस कूचे में नहीं आने की। उसकी काफ़ी मरम्मत हो चुकी। मोहन क्या, मोहन के दस पुश्त भी उसे लुभा नहीं सकते।

मगर वह खाली पेट लिये कब तक गोद भरी रखेगी? घर में तो भूनी भाँग नहीं। अगर वह किसी की बीवी नहीं होती तो कहीं बाँदी होगी? बाँदी नहीं होती है तो किसी की रखेली होगी? खेती तो अब उनकी रोटी रही नहीं। कोख के तले माँग की लट भले ही दब पड़े, मगर पेट तो किसी को पीठ नहीं देता। मर्यादा की मौज में जवानी की जलन बुझ भी पड़े, मगर भूख की तपन तो बुझती नहीं। खाली पेट के आगे न कुल की लाज है, न बच्चे का लिहाज़। दोनों जून बाजरे की रोटी भी न मिली तो वह खाक····

आखिरकार उसने गाँव के मालिक की शरण ली। मालकिन मालकिन के पैरों पड़ी।

उसे दूर जाना न पड़ा। गाँव से थोड़ी दूर अलग बाबू की ड्योढ़ी थी।

२

"तो तू राँड़ का नाम ढोती रहेगी ?"—मालकिन उसे पास बैठाकर समझाने लगी।

"दुनिया जो भी नाम दे बहूजी, लल्ला तो मुझे 'माँ' पुकारता है ! उसके मुँह से जब 'माँ' सुनती हूँ तो राँड़ का दुःख भूल जाती हूँ।"

"पगली कहीं की ! उसके बाप ने तेरा साथ दिया जो वह देगा ? बहू के आँचल की हवा लगी कि बेटे का रुख बदला। किसी की बाँह धर ले। नहीं तो…"

"पेट ही के लिए न बाँह धरनी है। सो तो आपकी बाँह धर ही चुकी हूँ, बहूजी !"

"एक पेट ही है ? तेरी जवानी—"

"सो तो बेटे की बाँह धरकर पार हो जाऊँगी।"

"तो तू माँग नहीं टिकाती ?"

"उहुँक् ! भला; अँजोरे में टिकाकर अब अँधेरे में क्या टिकाऊँ ? लल्ला के सामने पानी-पानी न हो जाऊँगी ?"

"अच्छा ! तुझे भी ऊँची जातिवालों की हवा लगी ? कहार के कुल में तो ··"

"यह तो जाति पर नहीं, आदमी पर है, बहूजी !"

बहूजी समझाकर थक गईं; रतन ने बाग नहीं ली।

राजाबाबू गाँव के मालिक थे। आदमी तो थे भलेमानस, मगर उस भलमनसी के तले एक चुलबुला-सा दिल था, जो ग़रीब के रूप का भी क़ायल था, ग़रीब के दुख पर भी मायल था।

रतन के दुख पर उनकी छाती उमड़ आई। रतन के मुख पर उनकी छाती उभर आई। उस मैले घूँघट के पट की फाँक से सुनहले रंग की बानगी पर आँखें फड़क उठीं। वे सोच में पड़ गये—'हाय! भगवान् की देन यह नाक़द्री ! इस नायाब नेमत की यह तबाही ! बेचारी के जमाल का कोई पुरसाँहाल नहीं ? वह एक महज़ खामख़याली की मौज में इस हुस्न को जिन्दा-दर-गोर करने को तुली है और बग़ल में ही हम हुक्के की तरह मुँह बाये टापते रहें ? विश्व के इस अनुपम माधुर्य को समय चाट-चाट उजाड़ कर धर देगा और दुनिया की दिलदारी हाथ मलती देखती रह जायगी ?—चूँकि वह अबूझ खुदकुशी पर तुली है ? वह अबूझ है तो हम भी अबूझ हैं ? इस रस का कोई रसिक नहीं ? इस रूप का कोई उपासक नहीं ? भगवान् ! तुम्हारी यह मर्जी रहती तो तुम

इसे सोने के साँचे में ढालते ?'

राजाबाबू की यह हुस्ननिवाज़ी उनकी ग़रीब-परवरी से उलझ पड़ी। छज्जे से चुन-चुनकर धोती समेटते, कुएँ से ताबड़-तोड़ भरी कलसी खींचते, आँगन में चुपचाप बर्त्तन माँजते, कमर में आँचल बाँधे कोठरियों में बुहारी देते जब कभी रतन उनके दृष्टिपथ में उतर आती, तो उन्हें लगता कि एक रूप और रंग की लहर ग़रीबी की चपकलिश में पिसकर बर्बाद हो रही है और वे अपने हृदय की तमाम क़द्रदानियाँ लिये हुए बस, दिलेरी की कमी की वजह, इस जुल्म की धाँधली में हाथ बटा रहे हैं !

उनकी करुणा फूट पड़ी। जो कुछ वे कर सकते थे, कर गये। महल के सटे उसे एक छोटा-सा घर दे दिया। मालकिन ने उसके आँचल के खूँट में भण्डार की कुंजी बाँध दी। लल्ला की रसोई दाल-रोटी तक ही सीमित न रही, सरकारी चौके की नेमतों तक तरक्की कर गई।

मगर राजाबाबू को इस बन्देनिवाजी से तसकीन न थी। रतन के रूप के अनुरूप तो यह भेंट न थी। ग़रीबी की चाट जो मिटी हो, जवानी की चाट तो मिटी नहीं। तो क्या दो रोटी, दो जोड़ी धोती पर ही उनकी तमाम दिलदारी खतम हो गई ? उस बेचारी की दर्दसरी दफ़न हो गई ? उसमे अन्तस्तल में निहित जो रस का उत्स है, उसका उन्हें पता देना अधर्म है ?

उसे भी तो ज़िन्दगी का बराबर हक़ है! इन ख़ुशरंग छींटों से किसी सहृदय का हृदय रंगीन न हुआ तो फिर इस हुस्न की रंगीनी की उपयोगिता कहाँ रही? कोई दिल डालकर उसका दिल क्यों न टटोले?

पड़ोसी श्यामबाबू डाक्टर से यह बहस घंटों छिड़ती। सुबह-शाम टहलते वक्त दोनों दोस्त उस मसले पर घंटों सर चीरते।

श्यामबाबू में भावुकता न थी, वास्तविकता थी। वे इस सूक्ष्म छानबीन के क़ायल न थे—चट स्थूल पर चले आते। उधर राजाबाबू को यह अरसिकता बेहद खलती। वे कला के लिए कला का दम भरते। श्यामबाबू कला का कल्ला थामकर नंगी ज़मीन पर दे मारते।

राजाबाबू के मकान के पिछूत में एक छोटा-सा तालाब है। चारों ओर पिण्ड पर नीम के घने दरख्त हैं। एक ओर पक्का घाट है।

सुनसान दुपहरिया थी। रतन नीम के घने झोंप के तले बैठी बाल सुलझा रही थी। ज़माने से लटों में लट बँध गई थी। अब दिन जो फिरे तो नहाने-धोने की सुध आई। वह तिल-तेल के छींटे दे-देकर सँवारने बैठी।

श्यामबाबू की निगाह जो पड़ी तो बरजस्ता ज़बान से फूट पड़ा—"बाल खोले तो घटा लोट गई!"

"बाप रे ! ये लम्बे काले बाल ! मगर भई, वह चाँद चाँद नहीं जो ढाल रखता है !"—राजाबाबू ने दाद दी।

"आफ़त के परकाले हैं, हुजूर।"

रतन के कान में आवाज़ जो पड़ी तो चेहरे के चारों ओर छाई हुई लटों को चीरकर कनखियों से देखा।

राजाबाबू घाट की ओट से सामने आ गये। हँसकर बोले—"रतन ! तो यह काली नागिनें पाल रखी हैं ? ग़ज़ब किया। आज खुले-आम खोल दीं ? तू इन्हें बाँधकर नहीं रखती तो ये छूट-छूटकर डँसती न फिरेंगी ? किसी की छाती पर लोट पड़ीं तो ?....."

"क्या सरकार ?"—रतन ने अकचकाकर पूछा।

"वाह ! हमारी छाती पर साँप लोट रहे हैं ! और क्या ? तुझे पता भी है ? तेरी तो पीठ पर हैं !"

रतन बात की तह तक पहुँच गई। उसे जैसे काठ मार गया। मन-ही-मन बोली—"ज़मीन फटती, मैं समा जाती।"

वह बुत बनी बैठी रही—डूबती, उतराती। जब सर पर सुहाग ही नहीं, तो माथे पर यह माटे का झोझ ढोकर फ़ायदा ? ये बाल तो जान के जंजाल ही न हैं ? जाने कहाँ उलझ पड़ेंगे। उसे न चोटी की गुँथाई करनी है, न तेल की सिंचाई। फिर यह बाल का बवाल उसे परकाल में काम देगा ?

बेचारी कहाँ बाल चीर रही थी, कहाँ लगी सर चीरने।

चीरते-चीरते चूर हो गई। एकाएक उठ पड़ी। मालकिन की सिलाई की पिटारी से कैंची तलाश लाई और तमाम बाल ताबड़तोड़ तराश कर रख दिये।

तीसरे पहर जब मालकिन की निगाह रतन पर पड़ी, तो रतन सिटपिटाती हुई बोली—"जब पाटी सँवारनी नहीं बहूजी, तो यह माटे का झोझ ही न था! काट न फेंकती, तो जाने....."

राजाबाबू तो देखकर एकबारगी चिल्ला उठे—"ऐं? यह क्या? तुमने....."

"यह साँप की पिटारी सर पर ढोती रही, मालिक? आज गाड़ आई?"

वे गुम हो गये। उनका दिमाग़ खौल उठा। फिर वही प्रश्न—'आखिर इस खुदकुशी का उसे क्या हक़ है? यदि वह रस पाती, प्रेम पाती, तो अपनी छाती के रस के उत्स को विरति की रेती में सूखने देती? उसे अपने शरीर की परवा नहीं, न हो; मगर पारखी की निगाह में तो उस सोने के सुडौल शरीर की सोने के दर से भी बढ़कर क़ीमत है! जब वह उसे यों ही लुटाकर ही दम लेगी, तो किसी सहृदय को लूटने देती जो उस खज़ाने के मधु को लूटकर कला की गोद भरता, काव्य का रस सँजोता। उसके काम का वह न हो—किसी कामी के काम का तो वह है। यही क्या कम है? वह निकम्मा तो न गया!'

रतन ने कसकर बच्चे को छाती में सिमटा लिया। एक मिनट के लिए उसे आँखों से ओट होने नहीं देती। लाख काम में फँसी रहे, लल्ला उसके गले में हाथ डाले रहता या उसके आँचल का छोर थामे खेलता। वह जब फुर्सत पाती, उसे छाती से लगा लेती। शायद छाती से लिपटाकर वह छाती में बल पाती। बस, मृणाल-सी कोमल बाँह की छाँह में यौवन के ताप से निवृत्ति ढूँढ़ती।

उस दिन असाढ़ की मेघकज्जल संध्या थी। फिर-फिर हवा चल रही थी। रतन बच्चे को गोद में लिये घाट पर चुप बैठी जाने किस अतीत की चिता-भस्म कुरेद रही थी।

राजाबाबू ने तालाब के उस पार से देखा। यह बरसाती छटा उनकी कलात्मक चेतना को छू गई। उसके चेहरे पर आज उनको एक अजीब प्रतिभा-सी नज़र आई। वे धीरे-से आकर घाट पर बैठ गये।

रतन ने मुड़कर मालिक को देखा। उसने बच्चे को उठाकर छाती में कस लिया।

राजाबाबू ने मुस्कुराकर कहा—"रतन! तुम्हारी छाती में दूध तो ज़रूर है, पर छाती में थोड़ा रस भी तो चाहिए!"

"दूध से बढ़कर कौन रस है, सरकार?"

"हाँ, मगर छाती के दूध से छाती की भूख तो नहीं मिटती!"

"गरीब को तो पेट की भूख है मालिक ! उसे छाती में भूख जगी तो फिर···"

"वह अभी जगी नहीं; इसीलिए तो तुम्हें पता नहीं चलता ! जब जगेगी तो आग लगाकर धर देगी। मगर····क्या सचमुच तुम उसे भूल ही गई ?"

"मैं तो जब लल्ला का मुँह देखती हूँ, तो दुनिया भूल जाती हूँ।"

राजाबाबू एक छन चुप रहे। फिर एक हिचक के साथ रुक-रुककर बोले—"और मैं जब तुम्हारा मुँह देखता हूँ, तो दुनिया भूल जाता हूँ !"

"इस मुँहजली का मुँह ? आप भी, मालिक !"

वह सर से पैर तक काँप उठी। बच्चे को ऐसा कसकर सिमटा लिया कि वह चीख पड़ा।

"तुम्हें पता है, इस मुख पर वह सोने का पानी है, जिसकी एक बूँद भी पीती तो दुनिया अघा जाती ! आज छाती में प्यास लिये कितने····"

"तो इस मुँह को झौंसवा दूँ ? न यह रहेगा, न किसी के मुँह में पानी भरेगा !"

"कैसी ऊटपटाँग बातें बकती हो ? यह क़ुदरत की कला है; इस पर तुम्हारा हक़ नहीं। जाओ, अन्दर जाओ। समझते-समझते तुम समझोगी।"

"जाती हूँ, मालिक ! मगर····सरकार····आपकी आँखों में पानी है। इस मुँह का पानी उतरा तो लल्ला के सामने मैं बे-पानी न हो जाऊँगी ?"

"जाओ-जाओ ; काम पर जाओ। हाँ, याद रखो, भगवान् ने तुम्हें जो कुछ दिया है, उसे खाक में लुटा देने का तुम्हें कोई हक़ नहीं। वह अकेले तुम्हारे लिए नहीं मिला है, दुनिया के लिए मिला है। तुम माता तो ज़रूर हो, मगर साथ-साथ आदमी भी हो—कामिनी भी हो।

रतन कुछ नहीं समझी। जल्दी-जल्दी चल दी।

राजाबाबू को डर समाया कि वह पगली कहीं कुछ कर न बैठे ! उस दिन ज़रा-सी बात पर सर के बाल तराश कर रख दिये। यह रूप, यह जवानी और यह पाबन्दी ! लावण्य की यह लीला और यह साधना ! क्या छाती के दूध से छाती का मद ही कोई पतला है ? क्या भरी गोद की यह तपस्या जवानी के तमाम मधु को पीकर निःशेष कर देगी ? मैं इस मधु की एक बूँद भी पाता तो काव्य का वह मधु-चक्र रचता कि दिलवाले दिल थाम लेते। हाय ! मैं वंचित ही रहा। वह भी वंचित ही रही। दुनिया भी वंचित ही रही। मैं, वह, दुनिया—तीन !

उनकी बंदिशों की नाकामयाबी उनकी प्यास की चाट को कुरेदनी लगी। ज्यों-ज्यों वह दूर सरकती रही, त्यों-त्यों उनकी

रसप्रियता ज़िद धरती गई।

"वह जितना हमसे छिपते जा रहे हैं,
नज़र का शौक़ बढ़ता जा रहा है।"

तो क्या उसकी छाती पर सवार होकर उसकी छाती की भूख को जगाना होगा? उसकी छाती में रस के उद्दीपन के लिए यह पाशविकता का आचरण ज़रूरी होगा?—ज़रूरी? उनकी मर्यादा जो घटती है! पर, साथ-साथ उनकी कलात्मक आत्मा जो रोती है!

मगर कहीं उसका दिल ही गुल हो गया हो!—तो फिर? सब बेकार! नहीं-नहीं, इस सिन में—इस हुस्न के साये में—यह मुमकिन नहीं। कोई दिल डाल सके तो वह फिर बल उठे।

रतन को सूनी जवानी की ट्रैजिडी फिर उनके सामने खड़ी हो गई।

जो हो, यह तो नामुमकिन था कि उनकी रस की प्यास उनके प्रयास को बेशर्मी की ज़िल्लत तक घसीट ले जाती। इस ज़िल्लत की लज्ज़त के वे क़ायल न थे। अभी विवेक का अंकुश मुड़ा न था—उनकी सौन्दर्य-लालसा ने रस का पुट देकर उसकी धार जो मुलायम कर दी हो।

श्यामबाबू उनकी इस कशमकश का ताड़ गये। उन्होंने देखा कि हज़रत दिल की उलझनों में बेतरह गिरफ़्त हैं। एक ओर रसोपासना की आड़ में कामुकता है, दूसरी ओर मर्यादा

की गोद में करुणिकता ; और दोनों के बीच में खड़ा है उनकी कला की कलाबाज़ी का का मालखौलिया। नग्न, दलीलों की दलदल से घसीटकर उन्हें ठोस ज़मीन पर लाना होगा।

आखिर एक दिन छेड़ ही बैठे—"देखता हूँ उसने सर मुड़ाकर आपको बड़े इतमीनान से मूँड़ डाला—वह भी उलटे उस्तरे से !"

"सो कैसे ?"—राजाबाबू ज़रा झेंपते हुए बोले।

"खूब ! बनी हजामत आपकी और आपको पता भी नहीं !"

"मैं आपकी बात कतई नहीं समझ पाता।"

"उसने अपनी पाकदामनी की धाक जमा दी और आप उसी पट्टी में आ गये ! मैं रहता, तो उसकी धज्जियाँ उड़ाकर रख देता। पता भी है आपको, उस कौम में सात सिन्धोरे की रस्म है ! आपकी रस की मुरली यहाँ कारगर न होगी—न होगी।"

"क्यों, आप भूल गये—'कौने तजी न कुल गली, ह्वै मुरली-सुरलीन !"

"जनाब, मोहन की मुरली के दिन अब गये, आज तो मदन की मुरली बोलती है सर पर चढ़।"

"मगर मैं तो रस के संचार का कायल हूँ। कला के···"

"तो आप सीने पर चढ़कर रस के प्याले उड़ेल डालिये।

सीधी उँगली जो घी निकालने चले हैं, यही आपकी भूल है। आपको घूँघट का पट खोलना है तो हाथ जोड़ने से कहीं ज्यादा हाथ बढ़ाने से काम चलेगा—समझे ?"

"तो फिर आपकी मंशा ?"

"बस, चाँप चढ़ाइये तो वह मुँह के बल आयेगी। अभी चंग पर चढ़ी कहाँ ?"

राजाबाबू चुप हो गये। फिर एक सर्द आह खिचकर बोले —"श्यामबाबू आखिर आप समझें, आज इस देश में यौवन का कितना सौन्दर्य, कितना माधुर्य एक झूठी धार्मिकता की धाँधली में पड़कर तिल-तिल तबाह हो रहा है! एक अंधी भावना के तले कितने स्वस्थ सुन्दर जीवन की तमाम संभावना दफ़न हो गई! कितना रस उचट गया। कितना पराग झर गया, कितना रंग सूखकर उड़ गया—बेकार—कुछ पता है ? हम उन्हें कला की किकोलों में लगाकर रखते, जीवन की ग्रंथियों में गूँथ पाते, तो आज घर-घर आनन्द की लहरें बहती रहतीं। यह तमाम विफ़ल जीवन—यह तमाम विफल यौवन—आज मेरी छाती पर साँप बनकर लोट रहा है। क्या अब इस दिमाग़ी बीमारी का इलाज नहीं हो सकता ?"

"इसीलिए न कहता हूँ, हुजूर! कि डाक्टर का नश्तर ज़रूरी है ताकि इस खललदिमाग़ी का मवाद निकालकर धर दिया

जाय। बीमार के चीखने का ख़याल रखना तो डाक्टर की कमजोरी होगी।"

बस, राजाबाबू ने इनायत की नज़र पलट दी।

❀ ❀ ❀

मालकिन मैके जा रही थीं। भाई की बीमारी का तार आया था। रवारवी में उनके हाथ का एक कंगन गुम हो गया। राजाबाबू के ख़ास खानसामा ने रतन को मालकिन की सन्दूकची टटोलते देखा था। बस, उसी के सर इलज़ाम आ पड़ा। वह सफाई देती तो किसे देती? यहाँ तो शतरंज बिछी थी। वह अपनी कोठरी में नज़रबन्द कर दी गई। तमाम चीजें ज़ब्त हो गईं। दाल-रोटी के भी लाले पड़ गये।

रतन तो उसी दिन, जिस दिन मालिक ने उसके मुँह के पानी पर तारीफ का पुल बाँधा, समझ गई कि वह यहाँ कितने पानी में है। कोई किनारा न मिला तो वह डूबी। मालिक की चितवन की लौ उससे छिपी न थी।

इस घर से अपना बिस्तर लपेटने पर वह कमर बांध चुकी थी, मगर उसका अपना घर तो पारसाल बरसाती चपेटों का शिकार हो चुका था। चचिया सास के घर जाना तो मौत के घर जाना था। वह चट म्यान से तलवार खींच लेती। मोहन वाली बात वह भूली न थी। फिर जाती तो कहाँ जाती?

इसी हैस-बैस में अचानक लल्ला बीमार पड़ गया। उसके पाँव में जंजीर पड़ गई। दवा-दारू के लिए पास में कानी चित्ती भी न थी। देव-देवियों के चौरे पर बगैर नज़र-नेयाज़ के गुज़र न थी। बस, दिल की दुआ थी—आँख के आँसू थे।

लल्ला को छाती में चिपटाए वह बराबर आँखें उठाकर यही पुकारती—'भगवान्! मुझे ले लो, इसे छोड़ दो। जान के बदले जान ले लो।'

बच्चे की पीठ पर फोड़ा उठ आया। बुखार भी दून पर था। रह-रहकर बेतरह चीख उठता। एक बार तो दर्द में डूब भी गया। रतन के पाँव तले से ज़मीन सरकने लगी। सर पर आसमान चक्कर काटने लगा।

पड़ोसी श्यामबाबू को रतन एक तरह से घर का ही डाक्टर समझती थी। बच्चे का घाव मुलाहिज़ा करने के बाद उन्होंने टेम्परेचर लिया तो मुँह बिचका दिया। कमरे से बाहर होते-होते बोले—"हालत संगीन है। जल्द नश्तर नहीं लगाया गया, तो बच्चे की जान गई समझो।" रतन ने हाय-हाय करते पैर पकड़े तो झटका दे दिया—"टें-टें करने से कुछ फ़ायदा नहीं। देखने को देख दिया मुफ़्त में। अब यहाँ नश्तर की बात है; सो भी संगीन। दस से कम न लूँगा।"

इधर यह दर्दनाक मंज़र था, उधर राजाबाबू के बैठके में सावनी महफ़िल जम रही थी। घटा तो शाम ही से घिर आई

थी। लगीं बूँदें झमझमाने तो यारों को यारबाशी सूझी। बस, मोटर दौड़ी। शहर की परीज़ादी आई। बोतल की लाल परी आई।

प्याले के पुलक में रूप की छलक ज़रूरी है। मीठे गले के रसीले तोहफ़े किसे नहीं भाते?

राजाबाबू पलंग-कमरे में आदमक़द आईने के पास खड़े-खड़े जल्दी-जल्दी बाल पर ब्रश फेर रहे थे कि एकाएक रतन बेतहाश पैरों पर जा पड़ी—"मालिक! लल्ला की जान गई। सिर्फ दस रु....."

राजाबाबू एक छन तो ठिठके। लेकिन दूसरे ही छन इतमीनान से मुस्कुराते हुए दराज से ह्विस्की की बोतल निकाली। एक पेग ढाला; दो चुनुक लिये। होंठों पर रेशमी रूमाल दुबदुबाई। सामने आईने में ज़रा तनकर देखा। फिर ताबड़-तोड़ बाल पर ब्रश फेरने लगे, जैसे कुछ हुआ ही नहीं!

यहाँ एक-एक पल पहाड़ हो रहा था। रतन हिचकियाँ लेती खड़ी हुई और आगे बढ़कर बोली—"लल्ला मर रहा है सरकार! मुझे चाहे जो कहो, लल्ला की जान बख्श दो।"

"हाँ हाँ, दस क्या, बीस लो"—कहते हुए राजाबाबू ने झन्न-से दराज़ खींचा। बीस रुपए निकाले। फिर बिलकुल पास जाकर बड़ी नरमी से कहा—"बच्चे की जान के साथ-

साथ मुझे तेरी ज़िन्दगी की भी फ़िक्र है। तुझे भी तो नई ज़िन्दगी देनी है !"

राजाबाबू ने रुपए थमा दिये और साथ-साथ लपककर उसे छाती में कस लिया। ताबड़तोड़ उसके गालों को चूमा, गले को चूमा, ललाट को चूमा और, होंठों पर होंठ जमाकर अपनी भुजाओं में बाँध लिया।

रतन तो मुर्दे की तरह ठिठुर पड़ी। सिकुड़कर, सूखकर काठ हो गई !

'ओफ् ओ ! यह ज़िद ! इस छाती से रस उठाना तो पत्थर पर दूब उगाना है !"

उनका माथा ठनका—यह क्या ? यह तो लजौनी लता से भी बढ़ गई ! महज छूते ही लट पड़ी। आगे जाने क्या होता ! कोई जुम्बिश तक नहीं। कहीं रक्त का संचार तो नहीं रुक गया ?

उन्होंने भुजाओं के पाश को ढीला कर दिया। रूमाल से पेशानी का पसीना पोंछा और ज़रा खिंचकर बोले—"बस, जाओ ! मैंने नाहक···। मैंने तो समझा था कि आख़िर तुम औरत तो होगी ! मगर नहीं, तुम सरापा माँ-ही-माँ हो। छाती में रस नहीं, दूध-ही-दूध है।"

पर रतन दीवार में लगी ठिठकी खड़ी रही—बे-लौस, बे-सुध। उसके चेहरे पर चेतना की एक लकीर तक न थी।

हठात् राजाबाबू की निगाह उसकी बेबसी पर गई। उन्हें बड़ी झेंप-सी आई।—"हाय! मैं क्यों इसे झूठमूठ छूने गया? —'गुनाह बेलज्ज़त!' आज क्या रस की योजना का मौक़ा है?—जब वह बच्चे की जान के लिए परीशान आत्म-बलिदान की चोटी छूने आई है!"

उन्होंने चट उसके कंधे पर हाथ रखकर दो बार झक-झोरा। उस धक्के से जाने उसे कहाँ धक्का लगा!

आँखें खुलनी थी कि वह तीर की तरह तड़पी। झनाक-से मुट्ठी के रुपयों को उनकी छाती पर फेंका और सर पर पाँव रखकर भागी।

उसी तेज़ी से दौड़ती हुई वह अपनी कोठरी में घुसी। बेहोश बच्चे को गोद में समेटा और उसी गीली अँधियारी में गुम्म हो गई!

चमन की भींगी क्यारी में उसके पैरों की छप-छप की आवाज़ परीज़ादी की तानों पर ताल दे गई; मगर किसी ने कुछ सुना नहीं। कोई सुनता भी कैसे?

उसी क्षण वह शोख कर्मासन दर्जनों खिली आँखों पर दो अधखुली आँखें रखकर बड़े मीठे सुर में छेड़ रही थी—

'शबे वस्ल ज़िद में बसर हो गई।
नहीं होते-होते सेहर हो गई॥'

३

सुनसान आधी रात। रतन अँधेरे में अंधाधुंध दौड़ी जा रही है। उस पर न बिजली कौंधने का असर है, न पानी में भींगने का डर।

हठात् नीम की एक डाली उसके आँचल से उलझ गई। एक झटका-सा लगा। बच्चे की पीठ का फोड़ा फूट गया! मवाद वह चला।

रतन शराबोर जब अपनी टूटी झोंपड़ी पर पहुँची तो बच्चा गोद में कुलबुला उठा। उसने आँखें खोल दीं। उचककर 'माँ' पुकारा। रतन अघा गई।

घर में क़दम रखने की भी गुंजाइश न थी। चारों ओर किचकिच, झाड़-जंगल। बरसाती छींटों से दीवारें भस्म गई थीं। बड़ेरा टूटकर लटक आया था।

वह सास की कोठरी की ओर बढ़ी। पल्ले खोलकर भीतर गई तो अवाक् हो गई। बूढ़ी अकेली खाट पर बेसुध पड़ी थी। रह-रहकर कराह उठती।

रतन छाती फाड़कर खटी, मगर बूढ़ी को बचा न सकी। मरते वक्त वह अपनी तमाम पूँजी रतन को सौंप गई।

रतन की तो आँखें खुल गईं! जो सत्तू चाटकर ज़िंदगी बसर कर आई, वह इतने नक़द और जेवर चुराकर रख जायगी—उसने स्वप्न में भी नहीं समझा था।

मिट्टी में रुपये गाड़कर उसने अपनी ही मिट्टी पलीद की—इसे वह मरते दम भी समझ सकी—कौन कहे!

रतन के दिन फिरे। अब कहीं आँचल पसारने की ज़रूरत न रही। मकान मरम्मत किया। खेत वापस लिया। बैठक में राम-लक्ष्मण बिराजे। पीतल के सिंहासन पर चाँदी का छत्र चढ़ा। राग-भोग का सिलसिला चला।

महल्ले की औरतों में कानाफूसी चलती रही। कहाँ यह राँड़ कूट-पीसकर पेट पालती और कहाँ दर्जनों औरतों की कुटौनी-पिसौनी पर दर कसने लगी! बर्त्तनों पर हाथ रगड़ते-रगड़ते जिन हाथों पर घट्टे पड़ चुके थे, वे अब पीतल के परातों में मालपूए साजने लगे! भला यह अनेत किससे सही जाती! जो दस के पैरों की जूती रहती, वह खुद अपने पैरों पर खड़ी हो गई—इस जुल्म की कोई हद है!

जिस दिन लल्ला के कान में सोने के कुंडल पड़े, उस दिन महल्ले की छाती की ऊमस छींटे उछालती फूट पड़ी। एक ने कहा—"बाबू की रखनी न थी! माल कमा लाई है!" दूसरी ने कहा—

'चोरी का माल है न जीजी ! टिकेगा ? कहाँ चक्की पीसती, कहाँ सोने का नथ झुला रही है !"

रतन जब सुनती तो हँस देती। रॉड़ सही, रखनी सही, वह माँ तो है ! वह बच्चे की ज़बान से 'माँ' सुनती तो मुहल्ले की तमाम सुनी अनसुनी कर देती।

ठाकुर की सेवा वह अपने परलोक के लिए थोड़े ही करती—बच्चे के कल्याण के लिए करती थी। बाज़ार से छींट-छालटी जो खरीदती, बच्चे की सजावट के लिए खरीदती। घर में मीठे पकवान जो पकते, वे भोग की आड़ में बच्चे ही के लिए पकते। उसके पास तो वही मारकीन की मोटी धोती, वही बाजरे की सूखी रोटी—और कुछ नहीं !

लल्ला लाड़-प्यार में पलकर सयाना हुआ। लोग अब उसे 'लाला' पुकारते। वह न गाँव की पाठशाला में पढ़ सका, न खेती की मुश्किलों को हल कर सका। बस, माँ के आँचल का छोर थामे, रस का मालपूआ चाबते बबुआ बनकर रह गया। दिन को सोने लगा, रात को जागने लगा। सर पर टोपी तिरछी दी, हाथ में घड़ी रखी।

कन्धे पर चादर रखनेवाले कन्धे भिड़ा नहीं पाते, न हल उठा पाते हैं।

आखिर लाला के सर पर मौर चढ़ा। रतन ने परिछन के पहले जब बेटे को आँचल के तले छाती से लगाया, तो विधवा

की ज़िन्दगी-भर की भूख अघा गई।

"जीजी ! बहू भी तो मुझे 'माँ' पुकारेगी ?"

"ना-ना, 'माँ जी' कहेगी !"—रतन की एक ननद ने हँस-कर जवाब दिया।

"मुझे तो 'माँ' ही बड़ा मीठा लगता है।"

"तो लो, अब दो-दो सुना !"

रतन फूली न समाई।

बहू आई। थी शहरी। अभी सयानी तो न थी, मगर बोलचाल में सयानों की नाक काटती।

वह झूले की जगह नीमास्तीन चाहती, मारकीन की रँगी धोती की जगह मखमली किनारी की साड़ी तलाशती। सर पर टिकुली की जगह नन्हीं बिन्दी ; नाक में चौड़ी झुलनी की जगह मोती ; पाटी की जगह चोटी।

सास से अनबन तो दो दिन में शुरू हो गई ! रतन ने नाक में बड़ा-सा नथ देकर नाथना तो चाहा, पर छोटी नथुनी के आगे उसे हिला न सकी। उसने आहिवात के खयाल से सर पर सघन सिन्दूर का पुट देकर बहू की नाक तक पसारना तो चाहा, मगर माँग की एक पतली लकीर से आगे बढ़ा न सकी। बहू ने चट नाक-भौं सिकोड़ ली। लाला ने माँ का साथ तो दिया, पर बहू का साथ न छोड़ा। वह माँ की बात सहता ; बहू की बात सुनता।

बात बढ़ न सकी। बहू मैके लौट गई ! बाप के घर जाकर बस गई।

दो साल बाद लाला जब ससुराल लाने गया, तो दो दिन की जगह दस दिन ठहर गया।

सास ने छूटकर कान भरा। सालों ने मचलकर कान थामा। आज तक उसने न कलिया चखा था, न चुक्कड़ का घूँट पीया था। ससुरालवालों ने सब्ज़ बाग़ दिखाकर ज़हरीली नेमतों का चसका लगा दिया।

बहू ने आते ही तूफ़ान बाँधा। गाँव के लिए वह ज़रूरत से ज़्यादा चटपटी निकली। चेहरे पर नमक, मिज़ाज में मिर्चे। होंठ में मधु, ज़बान में विष। छाती में प्यास, आँख में हिर्स।

रतन ने देखा, बहू काफ़ी ढीठ होती जा रही है। सास को भी पीठ नहीं देती ; उलटे उसी पर छींटेकशी करती है। शहरी होने की हैसियत से वह चोली ही कसकर रह जाती तो बात न बढ़ती। मगर जब चोली कसने के अलावा वह फबती भी कसने लगी, तो घर में एक अजब कशमकश पैदा हो गई।

लाला तो बहू के होठों से रस पीकर उसकी जीभ के विष के छींटों को भूल जाता।

बहू के बचपन की नादानियाँ अंगों से सिमटकर निगाहों के कोने में समा गईं और कनखियों के सहज कटाक्ष में शोखियों की लहर बनकर फूट पड़ीं। बस, झीने घूँघट के पट से

बिजलियों की लीला खेल उठी। जब वह लाल तहबँद पर झिल्ली-सी मलमली साड़ी पहने, लाल फ़ीते में गूँथी काली, चोटी फ़हराती महल्ले में झमक कर जाती, तो रंगीनों का एक मेला खड़ा कर देती।

आखिर एक दिन रतन फ़ट पड़ी—"तू बाजार में मटकती फिरेगी बहू ! तो याद रख, मैं दूसरी बहू लाकर ही दम लूँगी।"

बहू आँगन में बैठी नखों पर मेंहदी चढ़ा रही थी; लाल हो गई।

"तो ला न' मैं इस घुड़की में नहीं आती। मैं भी दूसरा वर ढूँढ़ लूँगी। किसी राजा-बाबू के पलँग की ताबेदारी न करूँगी—हाँ !"

"लल्ला ! यह सुन, तेरी मुँहफट बहू गाली बकती है। झोंटा पकड़ इसे घर से निकाल दे। मैं कल दूसरी बहू ला दूँगी। ठाकुर सामने हैं। सच मान।"

"अरे राख चोन्हा ! छिनरी बनली भगतिन !"

लाला आ पड़ा। "हाँ-हाँ, भला, माँ को ऐसा ·· "

बहू का रुख देखा तो सन्न हो गया और आगे बढ़ झोंटा पकड़ बाहर निकालने के बदले कमर में हाथ डाले उसे सोने के कमरे में लेकर घुस गया।

बेटे की इस तरफ़दारी पर रतन कट गई। कटे पेड़ की तरह खाट पर जा पड़ी।

तो क्या यही आँखों का तारा—जिगर का टुकड़ा—है ?—उसके तमाम बलिदान का केन्द्र-बिन्दु ! तो क्या दो चुटीली चतवनों ने इसकी ज़िन्दगी की तमाम कमाई को लूट लिया ! एक ही फूँक में जीवन की भित्ति ढेर हो गई ! आज उसका तमाम विफल अतीत छाती की पंजरियों में चीत्कार कर उठा। जिस स्नेह के अंकुर को सींच-सींचकर सम्पन्न करने में उसने तमाम जवानी उलीच कर रख दी, वही मुकुल जब फूलने-फलने पर आया, तो विष की वेल बन गया !

सोचते-सोचते उसके आधे बाल सफेद हो गये।

लाला खाट के पास आकर खड़ा होता, एक-टक माँ को देखता, हालचाल दरियाफ़्त कर लेता; फिर आँख चुराकर चट बहू के कमरे में घुस जाता।

तीसरे दिन उसने रतन से खुलकर पूछा—"माँ। उठो, कुछ खाओगी नहीं ? हाँ····तुम्हारी वह कुंजी कहाँ है –"

रतन ने आँखें खोल दीं। 'माँ' की आवाज़ पर वह एक-बारगी गल गई। कुछ भी हो, लल्ला उसे 'माँ' तो पुकारता है ! मगर हाँ, यह 'माँ' तो वह परिचित 'माँ' नहीं है। इस 'माँ' में वह मिठास है, न वह हुलास। यह तो आत्मा की वाणी नहीं, रस्म की तामीली है।

"बहू ने कुंजी माँगी है न ? यह लो।"

उसने आँचल के खूँट से कुंजी खोलकर फेंक दी। लाला झेंप-सा गया।

"कल रामनवमी न है! भगवान का फूल डोल नहीं रखोगी?"

"सच तो!"—कहती हुई रतन उठी और ठाकुर के घर में तिलमिलाती हुई चली गई।

तीन-चार दिन और बीते। शयनारती के बाद जब रतन अपनी कोठरी में आई तो उसे एक विचित्र गंध-सी लगी। कुछ ऐसी ही गंध उसे एकाध रात और मिली थी, जब वह खाट पर पड़ी दिन काट रही थी। उसने नथने फैलाकर उस गंध को जाँचने की कोशिश की। हाँ, यह तो वही परिचित गंध है, जो अक्सर राजाबाबू के बावर्चीखाने से उठा करती थी! वह आगे सोच न सकी। चटपट आँगन में चली गई।

बहू के घर के किवाड़ लगे थे। हाँ, भीतर से एक अजब छन-मन की आवाज़ उठ रही थी! उसने चूर के फाँक से झाँक कर देखा—खाट के पास लोहे का चूल्हा दमक रहा है, और एक हल्की-सी कड़ाही में प्याज़ का दामन देकर दजनों बगेरियाँ भूनी जा रही हैं। उसकी निगाह कहीं खाट के उस पार जाती तो अपने नौनिहाल को बोतल के जलते पानी से गला सींचत पाती। वह प्याज़ की बिरियानी की गंध न होती, तो ज़बान के साथ-साथ गले की चोरी भी फूट जाती।

रतन तो आग हो गई। एकबारगी उबल पड़ी—"क्यों री कुलच्छनी! घर में राम का जनम है न, तू मांस पकाकर खा रही है? आने दे लल्ला को। तेरा मांस न पकाकर····"

रतन की बात खतम भी न होने पाई थी कि बहू किवाड़ खोलकर फट पड़ी—"हूँह, मैं अछिवात के लिए खाऊँगी नहीं? तुझ-जैसी कच्चे थोड़े ही खाती हूँ। सास खाई, ससुर खाई, भतार खाई, अब बेटे पर भी····?"

रतन ने तड़पकर उसका मुँह जाँत दिया। बात आधी कट-कर रह गई। इस छीना-झपटी में बहू की कनपटी किवाड़ पर जो पड़ी तो कटकर लहू की लकीर-सी फूट पड़ी।

बहू ने आसमान सर पर उठा लिया—"बाप रे! यह सास है कलमुँही? मुझे भी राँड़ बनाकर दम लेगी। मेरा सुहाग नहीं देख पाती। आज मैं ही नहीं या यह राँड़ ही नहीं।"

लाला ने बहू की कनपटी पर लहू की लकीर जो देखी तो एकबारगी शराब उचक कर उसके दिमाग़ पर चढ़ गई। वह फुफकारता हुआ निकला और माँ की ओर आँखें तरेर कर बोला—"निकल राँड़ कहीं की! दूर हो! आई है—"

रतन ने आँखें फाड़कर लाला को देखा। ऐं! यह कौन है?—लल्ला? आज तक तो न यह सूरत देखी, न यह वहशत।

"राँड़?····तू भी····?"

वह आगे बोल न सकी। एक पल जाने क्या जोहती रही। धरती फटी नहीं। आसमान फटा नहीं। माता की छाती फट गई!

बस, उसी दम घर से निकल गई। दौड़ती हुई गाँव पार कर गई। मोहन के दरवाज़े पर पहुँची।

मोहन खाट पर बैठा चिलम पी रहा था। अब वह पचास के पड़ोस में था। उसकी तन्दुरुस्ती जवानी की चुक्कड़बाज़ी की कौड़ी-कौड़ी चुकाने में खट चुकी थी।

रतन तड़ाक से घर में घुस पड़ी।

"मैं तेरा घर करने आई हूँ, मोहन!"

मोहन अवाक् हो गया। उसे पहचानने में कुछ देर लगी। ठठाकर हँस पड़ा।

"मरने के दिन? बेटे से भर पा चुकी?"

"मैं अब राँड़ का नाम नहीं सह पाती। तू अँधेरे में मेरी माँग टीक दे।"

"अच्छा! जवानी का उतार आया तो तुझे भतार सूझा? निकल यहाँ से! राँड़ कहीं की!"

❀ ❀ ❀

आज भी रतनी बुढ़िया इस जवार में सूखे पत्ते की तरह उड़ती फिरती है। न कहीं घर है, न दुआर। किसी ने कुछ खिला दिया तो खा लिया। किसी ने कुछ पहना दिया तो पहन

लिया। वह आप आप-ही-आप बिड़बिड़ जाने क्या बका करती है! कभी रोती है, कभी हँसती है। बस, साँझ-सबेर ईंट-पर-ईंट रगड़-रगड़कर लाल बुकनी-सी तैयार करती है; उसे चुटकियों में भर-भरकर सफेद बालों की पाटी में सँवारती है; फिर फूलों की सूखी पँखुरियाँ बटोर-बटोरकर टिकुलियों की तरह ललाट पर चिपकाती है। हाँ, जब बच्चों का गिरोह उसे पा लेता है और 'राँड़! राँड़!!' चिल्लाकर चारों ओर से तालियाँ पीटता है, तो वह अजब खिसियानी-सी रोड़े चुन-चुनकर मारने दौड़ती है।